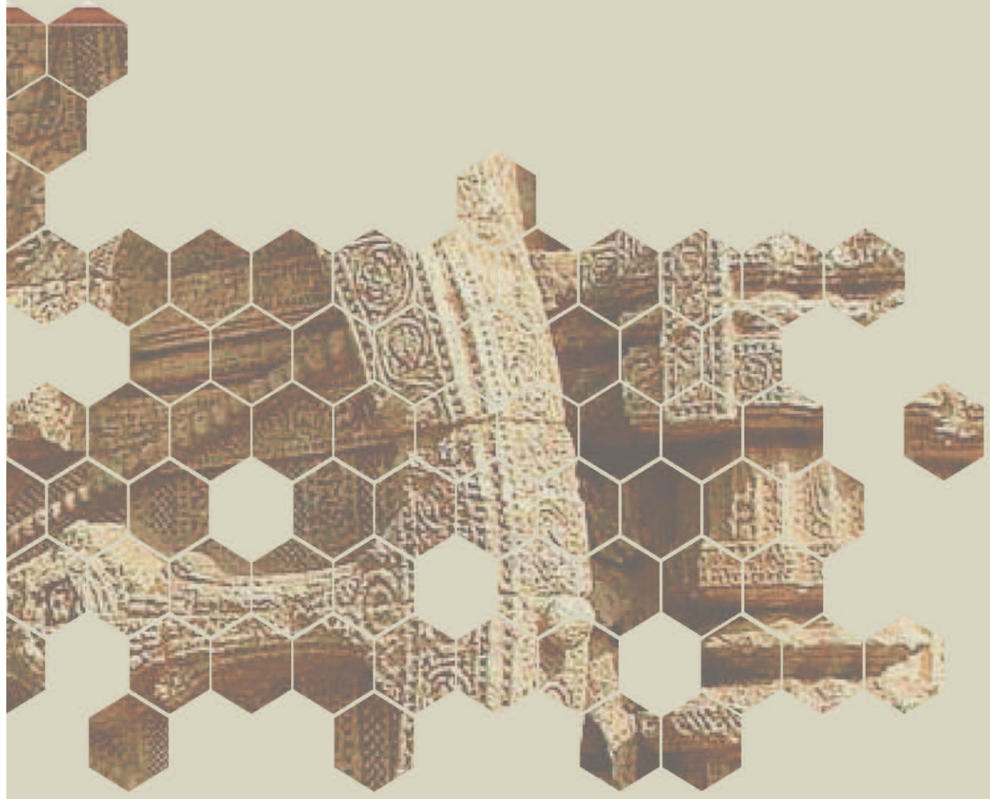

प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य तथा उसका इतिहास -I

Dr. C.V. Raman University
Kargi Road, Kota, BILASPUR, (C. G.),
Ph. : +07753-253801, +07753-253872
E-mail : info@cvru.ac.in | Website : www.cvru.ac.in

Institute of **Open** and **Distance Education**

Faculty of Arts

प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य तथा उसका इतिहास -I

1MAHIN1

DR. C.V. RAMAN UNIVERSITY
Chhattisgarh, Bilaspur
A STATUTORY UNIVERSITY UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT

1MAHIN1

प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य तथा उसका इतिहास

1MAHIN1, प्राचीन एवं मध्यकालीन काव्य तथा उसका इतिहास – I

Edition: March 2024

Compiled, reviewed and edited by Subject Expert team of University

1. Dr. Radha Sharma

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

2. Dr. Pooja Yadav

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

3. Pragya Sharma (Net Qualify)

(Assistant Professor, Dr. C. V. Raman University)

Warning:

All rights reserved, No part of this publication may be reproduced or transmitted or utilized or stored in any form or by any means now known or hereinafter invented, electronic, digital or mechanical, including photocopying, scanning, recording or by any information storage or retrieval system, without prior written permission from the publisher.

Published by:

Dr. C.V. Raman University

Kargi Road, Kota, Bilaspur, (C. G.),

Ph. +07753-253801, 07753-253872

E-mail: info@cvru.ac.in

Website: www.cvru.ac.in

इकाई-एक

निम्नलिखित पद्यों की व्याख्या

विद्यापति

(1)

नव वृन्दावन नव-नव तरुगण
नव-नव विकसित फूल।
नवल वसन्त नवल मलयानिल
मातल नव अलिकूल॥
बिहरइ नवल किशोर।
कालिन्दि-पुलिन कुञ्ज नव शोभन
नव-नव प्रेम-विभोर॥
नवल रसाल-मुकुल-मधु-मातल
नव कोकिल-कुल गाब।
नवयुवतीगण चित उमताएल
नव रसेँ कानन धाब॥
नव युवराज नवल नव नागरि
मीलए नव-नव भाँति।
नित-नित अइसन नव-नव खेलन
विद्यापति मति माति॥

व्याख्या- (वसन्त-ऋतु होने के कारण) नये वृन्दावन के नये-नये पेड़ों में नये-नये फूल खिले हैं।

रँगीली वसन्त-ऋतु है। सुन्दर दक्षिण-पवन बह रहा है। भौंरों का नया समूह मतवाला हो गया है।

यमुना-तट पर शोभा-सम्पन्न कुञ्जवन में नये-नये प्रेम में मग्न होकर श्रीकृष्ण विहार कर रहे हैं।

आम्र की नई मंजरियों के मधु से मतवाले कोकिलों का नया समूह गा रहा है।

नई-नवेली युवतियों का मन पागल हो गया। (वे) नई उमंग से (अर्थात् नई उमंग में भरकर) जंगल को दौड़ चलीं।

युवराज श्रीकृष्ण नये हैं। सुन्दरियाँ भी नई-नवेली हैं। (इसीलिए वे) नई-नई रीति से (आपस में) मिल रहे हैं।

प्रतिदिन ऐसे ही नये-नये खेल हो रहे हैं, (जिन्हें देख-देखकर) विद्यापति का मन मतवाला हो रहा है।

(2) **माधव! बहुत मिनति करु तोइ।**

देइ तुलसी-तिल देह समर्पल
दया जनु छाड़बि मोइ ॥
गनइते दोष गुण-लेश न पाओब
जब तुहुँ करब विचार ।
तुहुँ जगन्नाथ जगते कहाओसि
जग-बाहर मोहि न छाड़ ॥
की मानुख-पशु-पाखिअ जनमिअ
अथवा कीट-पतङ्ग ।
करम-विपाके गतागत पुन-पुन
मति रहु तुअ परसङ्ग ॥
भनइ विद्यापति अतिशय कातर
तरइते इह भव-सिन्धु ।
तुअ पद-पल्लव करि अवलम्बन
तिल एक देह दीनबन्धु ॥

व्याख्या- हे कृष्ण ! (मै) तुमसे बहुत प्रार्थना करता हूँ । (मैंने) तुलसी (और), तिल देकर (अपना) शरीर (तुम्हें) सौंप दिया । (इसलिए) मुझ पर दया मत छोड़ना (अर्थात् मुझ पर सदा सदय रहना ।)

जब तुम विचार करोगे, (तब) दोष गिनते हुए (मुझमें) गुण का लेश भी नहीं पाओगे । (किन्तु) संसार में तुम जगन्नाथ (संसार का स्वामी) कहलाते हो । (इसलिए मेरी प्रार्थना है कि तुम) मुझे संसार से बाहर मत छोड़ दो (अर्थात् मेरी गिनती भी संसार में ही करो, जिससे तुम मेरे स्वामी बने रहो ।)

क्या मनुष्य, पशु, पक्षी अथवा कीट-पतंग में ही जन्म लूँ ? पूर्व-कृत कर्म के परिणामस्वरूप बार-बार जाना-आना होता ही रहेगा । (अर्थात् जन्म-मृत्यु का चक्र चलता ही रहेगा) किन्तु तुमसे यही प्रार्थना है कि मेरी, बुद्धि तुम्हारे विषय में लगी रहे ।

अत्यन्त आर्त्त होकर विद्यापति कहते हैं-हे दीनबन्धु ! इस भव-सिन्धु को पार करने के लिए तुम्हारे पद-पल्लव का अवलम्बन करूँ-(ऐसा) क्षण (तो) दो ।

(3)

तातल सैकते वारि-बिन्दु-सम
सुत-मित-रमणि-समाजे ।
तोहे बिसरि मन माहि समर्पल
अब मझु हब कोन काजे ॥
माधव ! हम परिणाम-निराशा ।
तुहुँ जगतारण दीन-दयामय
अतए तोहर बिसवासा ॥
आध जनम हम निन्दे गमाओल
जरा-शिशु कत दिन गेला ।
निधुवने रमणी रस-रङ्ग मातल
तोहें भजब कोन वेला ॥
कत चतुरानन मरि-मरि जाओत

न तु-अ आदि-अवसाना।
तोहे जनमि पुनि तोहे समाओत
सागर लहरि समाना॥
भनइ विद्यापति शेष शमन-भये
तुअ बिन गति नहि आरा।
आदि-अनादिक नाथ कहाओसि
अब तारण-भार तोहारा॥

व्याख्या- गर्म बालू के ढेर पर पानी की बूँद के समान पुत्र, मित्र (और) स्त्री का समाज (क्षणस्थायी) है। (फिर भी मैंने) तुम्हें भूलकर अपना मन उन्हें सौंप दिया। (हाय !) अब मुझे कौन काम आयेगा ?

हे कृष्ण ! आयु के ढलने पर मैं (सबसे) निराश हो चुका हूँ। तुम संसार के तारने वाले हो-दुखियों के प्रति दयालु हो। इसीलिए (केवल) तुम्हारा विश्वास है।

मैंने सोकर आधा जन्म गँवा दिया। बुढ़ापे (और), बचपन के भी कितने दिन (व्यर्थ) बीत गये। (जो थोड़ा-बहुत समय बचा, उसमें भी मैं) आमोद-प्रमोद में (और) रमणियों के रस-रङ्ग में मतवाला हो गया। फिर भला तुम्हें किस समय भजता ?

कितने ही ब्रह्मा मर जायेंगे, (पर) तुम्हारा आदि-अन्त नहीं होगा। समुद्र की लहर के समान तुम्हीं से पैदा होकर फिर (वे) तुम्हीं में खो जायेंगे। (अर्थात् जिस प्रकार लहरें समुद्र से पैदा होकर फिर उसी में खो जाती हैं, उसी प्रकार ब्रह्मा, विष्णु आदि भी तुमसे पैदा होकर तुम्हीं में खो जायेंगे, किन्तु तुम्हारे आदि-अन्त तक का पता नहीं पा सकेंगे।)

विद्यापति कहते हैं-अन्तकाल में (जब) यम का भय होगा, (तब) तुम्हें छोड़कर दूसरा (कोई भी) सहारा नहीं मिलेगा। (हे कृष्ण ! तुम सृष्टि के) मूल कारण परमेश्वर के (भी) अधीश्वर हो। (इसीलिए) अब पार करने का भार (अर्थात् बेड़ा पार लगाने का भार) तुम्हारा है (अर्थात् तुम्हारे कन्धे पर है)।

विशेष- विद्यापति ने इस पद में भगवान् श्रीकृष्ण के विराट् रूप का निदर्शन किया है।

(4)

शैशव छल नव जउवन भेल।
श्रवणक पथ दुहुँ लोचन लेल॥
वचनक चातुरि लहु-लहु हास।
धरणिए चान्द करइ परकास।
मुकुर लेइ अब करइ सिङ्गार।
सखि-ठामे पूछइ सुरत-विहार॥
निरजने उरज हेरइ कत बेरि।
बिहसइ अपन पयोधर हेरि॥
पहिल बदरि सम पुन नवरङ्ग।
दिने-दिने अनङ्ग अगोरल अङ्ग॥
माधव ! पेखल अपरुब बाला।
शैशव जउवन-दुहुँ एक भेला॥
विद्यापति कह तुहुँ आगे आनि।

दुहुँ एक योग इ के कह सजानि ।।

व्याख्या- (नायिका के शरीर में) बचपन था; (किंतु अब वह) नवयौवना हो गई । (इसीलिए उसकी) दोनों आँखों ने कान का मार्ग ले लिया (अर्थात् उसकी दोनों आँखें कान तक फैल गईं) ।

(उसके) वचन की चतुराई (और उसका) मन्द-मन्द हास्य ! (अर्थात् उसके वचन में चतुराई आ गई और उसके ओठों पर हँसी खेलने लगी । सो, जान पड़ता है, जैसे) चन्द्रमा ने धरती को ही प्रकाशित कर दिया !

अब (वह) आईना लेकर श्रृङ्गार करती है (और) सखियों के पास (जाकर) काम-क्रीड़ा पूछती है (अर्थात् सखियों से काम-क्रीड़ा की बात करती है) ।

एकान्त में (वह) कितनी बार (अर्थात् बार-बार) अपने स्तनों को देखती है (और) देखकर हँसने लगती है ।

पहले (उसके) स्तर बेर के समान थे । फिर से बढ़कर नारंगी के समान हो गये । (जान पड़ता है, जैसे) दिन-दिन (उसके) अङ्गों को कामदेव अगोर रहा है (अर्थात् आ बसा है ।)

हे कृष्ण ! (आज मैंने एक) अपूर्व बाला को देखा । (सो, उसे देखकर ऐसा जान पड़ा, जैसे) शैशव (और) यौवन-दोनों (मिलकर) एक हो गये ।

विद्यापित कहते हैं-(अरी दूती !) तुम नासमझ हो । कौन सयानी कहती है (कि शैशव और यौवन-इन) दोनों का एक साथ मिलन होता है ?

विशेष- 'कीर्त्तनानन्द' में इस पद की प्रारंभिक आठ पंक्तियाँ ही हैं। सम्पूर्ण पद 'वैष्णव-पद-लहरी' और 'पदकल्पतरु' में है ।

(5)

सजनी ! अपरुब पेखल रामा ।
कनकलता अवलम्बने ऊगल
हरिण हीन हिमधामा ।।
नयन नलिन दउ अञ्जने रञ्जित
भजुह बिभङ्ग विलासा ।
चकित चकोर-जोर विधि बान्धल
केवल काजर पाशा ।।
गिरिवर गरुअ पयोधर परसित
गिम गजमोतिम हारा ।
काम कुम्भ भरि कनक शम्भु परि
ढारत सुरधुनि धारा ।।
पैसि प्यागे याग शत यागइ
सोइ पाओये बहुभागी ।
विद्यापति कह गोकुल-नायक
गोपीजन अनुरागी ।।

व्याख्या- हे सखी ! (आज मैंने एक) अपूर्व सुन्दरी को देखा । (उसे देखकर ऐसा जान पड़ा जैसे) स्वर्ण-लता का अवलम्बन कर (अर्थात् सोने की लता के ऊपर) हरिण-हीन (निष्कलङ्क) चन्द्रमा उगा है ।

अञ्जन से अनुरञ्जित (उसके) दोनों नेत्र-कमल (और उसकी) भौंह के वक्र हाव-भाव को (देखकर ऐसा जान पड़ा, जैसे) चौंकते हुए चकोर के जोड़े को विधाता ने केवल काली रस्सी से बाँध दिया है।

पर्वत के समान उन्नत स्तनों का स्पर्श करते हुए (उसकी) गर्दन के गजमुक्ता-हार को (देखकर ऐसा जान पड़ा, जैसे) कामदेव-निर्मित शिव के ऊपर गंगा की धारा को घड़े में भरकर उड़ेल रहा है। (प्रथम पंक्ति की क्रिया 'पेखल' का संबंध क्रिया के रूप में यहाँ तक है।)

प्रयाग में बैठकर (अर्थात् प्रयाग जाकर) जो सैकड़ों यज्ञ करता है, वही महान् भाग्यशाली (ऐसी सुन्दरी को) पाता है। विद्यापति कहते हैं-गोकुल-नायक भगवान् श्रीकृष्ण गोपी-जनों के अनुरागी हैं।

विशेष- उपर्युक्त पद के 'काम कुम्भ भरि' में 'कुम्भ' के स्थान पर 'कीर्त्तनानन्द' को छोड़कर अन्य पदावलियों में 'कम्बु' पाठ है, जो समीचीन नहीं है। कारण, शम्भु के ऊपर कम्बु (शंख) से जल नहीं चढ़ाया जाता है। विद्यापति के समान महान् विद्वान् ऐसा नहीं लिख सकते हैं। जान पड़ता है, यह लेखक का प्रमाद है। किञ्च, 'कुम्भ' पाठ रखने से 'शम्भु' के साथ अनुप्रास भी बैठता है।

'क्षणदागीतचिन्तामणि' में भणिता-सूचक अन्तिम चार पंक्तियों से पूर्व निम्नलिखित चार पंक्तियाँ और हैं, जो अनुपयुक्त प्रतीत होती हैं-

प्रथम वयसि धनि मुनि-मन-मोहनि
गजवर जिनि गति मन्दा।
सिन्दुर तिलक भानु तड़ितलता जनु
ऊयल पुनिमक चन्दा॥

(6)

कि कहब हे सखि! कान्हक रूप।
के पतिआएब सपन-सरूप॥
अभिनव जलधर सुन्दर देह।
पीत वसन जनि दामिनि-रेह॥
झामर-झामर कुटिल सुकेश।
किए शशिमण्डल शिखण्ड-संवेश।
जातकि-केतकि- कुसुम-सुवास।
पुलशर मनमथ तेजल तरास॥
विद्यापति कह कि बोलब आर।
सून कएल बिहि मदन-भण्डार॥

व्याख्या- हे सखी! (मैं) कृष्ण के स्वरूप (के बारे में) क्या कहूँ? स्वप्न-तुल्य (उस स्वरूप का) कौन विश्वास करेगा?

एकदम नये (अर्थात् विना बरसे) मेघ के समान सुन्दर शरीर (और उसके ऊपर) बिजली की रेखा के समान पीले वस्त्र!

काले-काले घुँघराले बाल! (सो, उन्हें देखकर शंका होती थी कि क्या चन्द्र-मण्डल में मयूर-पुच्छ (कृष्ण के माथे की कलँगी) पैठ गया है?

(उनके शरीर से) जातकी (और) केतकी के फूलों की सुगंध (फैल रही थी। जान पड़ता था, जैसे उनके) भय से कामदेव ने (अपना) पुष्पबाण तज दिया है।

विद्यापति कहते हैं-और क्या कहूँ ? (इतना ही कहता हूँ कि कृष्ण के रूप-निर्माण में) विधाता ने कामदेव का भण्डार ही सूना कर दिया।

(7)

कि कहब हे सखि ! इह दुख ओर।
बाँसि-निसास-गरलें तन भोर॥
जखनहिँ पैठल श्रवणक माझ।
तखनहिँ विगलित तन-मन लाज॥
विपुल पुलकेँ परिपूरल देह।
नयने न हेरि-हेरए जनि केह॥
गुरुजन-समुखहि भाव-तरङ्ग।
जतनहिँ वसने झाँपु सब अङ्ग॥
लहु-लहु चरणे चलिअ गृह-माझ।
दैवेँ से बिहि राखल लाज॥
तन-मन विवश खसल निबिबन्ध।
कि कहब विद्यापति रहु धन्ध॥

व्याख्या- हे सखी ! इस दुःख का ओर-छोर क्या कहूँ ? (अर्थात् इस दुःख का बखान कैसे करूँ ? कृष्ण की) बाँसुरी की गरल-रूपी फूँक से (मेरा) शरीर (उनमें) तल्लीन हो गया।

जभी (बाँसरी की फूँक मेरे) कानों में पैठी, तभी (मेरे) तन-मन से लाज-(सभी) ढीली पड़ गई-समाप्त हो गई।

रोमाञ्च के आधिक्य से (मेरा) शरीर भर गया। (मैं अपनी) आँखों देख नहीं पा रही थी कि कोई सखी मुझे देख रही है।

गुरुजनों के सामने ही (मेरे मन में) भावों की तरङ्गें लहराने लगीं (फिर तो) यत्न से (मैंने अपने) सभी अङ्ग वस्त्र से ढँक लिये।

धीरे-धीरे पैरों से (अर्थात् पैर उठाकर मैं) घर के बीच चली गई। (समझो कि) भाग्य से विधाता से (आज मेरी) लाज रख ली।

(मेरे) तन-मन (अपने) वश में नहीं रहे। नीवीबन्ध (भी खुलकर) गिर पड़ा। विद्यापति (स्वयं) उलझन में पड़ गये। (इसलिए इससे अधिक वे) क्या कहेंगे ?

(8)

थरथर काँपइ लहु-लहु भास।
लाजे न वचन करइ परगास॥
आज पेखल धनि बड़ विपरीत।
खने अनुमति खने मानइ भीत॥
सुरतक नामे मुँदइ दुहु आँखि।
पाओल मदन महोदधि साखि॥
चुम्बन बेरि करइ मुख बङ्क।
मीलल चान्द सरोरुह अङ्क॥
निबिबन्ध-परसेँ चमकि उठ गोरि॥
जानल मदन-भण्डारक चोरि॥
फुजल वसन हिअ भुजेँ रह साँठि।

बाहर रतन आँचरे देह गाँठि ॥
विद्यापति कि बुझब बल हेरि ।
तेज तलप परिरम्भण-बेरि ॥

व्याख्या- (नायक की उक्ति-बाला) थरथर काँपती है-धीरे-धीरे बोलती है । लाज के कारण साफ-साफ बातें भी नहीं करती है ।

(मैंने) आज सुन्दरी को बहुत ही विपरीत देखा । कभी वह (केलि के लिए) अनुमति देती थी, (और) कभी डर जाती थी ।

सम्भोग के नाम से (अर्थात् सम्भोग का नाम सुनकर वह) दोनों आँखें मूँद लेती है । (जान पड़ता है, जैसे उसे) कामदेव-रूपी समुद्र दृष्टिगोचर हो गया है । (अर्थात् जिसने कभी समुद्र नहीं देखा है, उसे यदि अचानक समुद्र दृष्टिगोचर हो जाता है तो वह जिस प्रकार भयभीत होकर आँखें मूँद लेता है, उसी प्रकार वह सम्भोग का नाम सुनकर आँखें मूँद लेती है ।)

चुम्बन के समय (अर्थात् मुँह चूमते समय वह अपने) मुँह को टेढ़ा कर लेती है (अर्थात् मुँह फेर लेती है । जान पड़ता है, जैसे), चन्द्रमा कमल की गोद में जा पड़ा है । (अर्थात् जिस प्रकार चन्द्रमा के अङ्क में आ पड़ने से-चन्द्र-किरण के स्पर्श से-कमल म्लान हो जाता है, उसी प्रकार नायक के मुखचन्द्र के स्पर्श से नायिका का मुख-कमल म्लान हो जाता है ।)

नीवीबन्ध को छूते ही सुन्दरी चौंक उठती है । (जान पड़ता है, जैसे उसने) कामदेव के खजाने की चोरी समझ ली है ।

खुले कपड़े को हाथों से (वह अपने) वक्षःस्थल पर सँवारे हुई थी (अर्थात् वक्षःस्थल को ढँके हुई थी ।), रत्न तो बाहर में पड़ा था; किन्तु वह आँचल में गाँठ दे रही थी ।

विद्यापति (कहते हैं-बोलो), देखकर क्या समझूँ ? (वह तो) आलिङ्गन के समय सेज भी तज देती है ।

(9)

अधर सुशोभित वदन सुछन्द ।
मधुरी फूले पूजू अरविन्द ॥
तहु दुहु सुललित नयन सामरा ।
विमल कमल दल बइसल भमरा ॥
विशेखि न देखलिए निरमलि रमनी ॥
सुरपुर सञो चलि आइलि गजगमनी ॥
गिम सञो लाबल मुकुताहारे ।
कुचजुग ककेब चरइ गङ्गाधारे ॥
भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार ।
रस बूझ शिवसिंह नृप महोदार ॥

व्याख्या- (नायिका का) सुडौल मुख अधर से (इस प्रकार) सुशोभित है, (जैसे) गुल दुपहरिया के फूल से कमल पूजा गया है ।

उसमें (मुख में) दोनों सुन्दर कजरारी आँखें (ऐसी जान पड़ती हैं, जैसे) स्वच्छ कमल-दल पर भ्रमर बैठे हैं ।

(उससे) बढ़कर निर्मित रमणी नहीं देखी। (अर्थात् ब्रह्मा ने जिन रमणियों का निर्माण किया, उनमें उससे बढ़कर कोई नहीं दिखाई पड़ी। जान पड़ता है, जैसे) स्वर्ग से (कोई) गजगामिनी (अप्सरा) चली आई है।

(उसकी) गरदन से मुक्ताहार लटक रहा है। (जान पड़ता है, जैसे) दोनों स्तन-रूपी चक्रवात गङ्गा की धारा में विचर रहे हैं।

कविकण्ठहार विद्यापति कहते हैं-महोदार राजा शिवसिंह (इस) रस को समझते हैं।

(10)

भल भेल दम्पति शैशव गेल।
चरन-चपलता लोचन लेल॥
दुहुक नयन कर दूतक काज।
भूषण भए परिणत भेल लाज॥
आबे अनुखन देअ आँचर हाथ।
बाज सखी सञे नत कए माथ॥
हमे अवधारल सुन सुन कान्ह।
नागर करथु अपन अवधान।
भँउह धनुषि गुण काजर रेख।
मारति रहत पोख अवसेख॥
रसमय विद्यापति कवि गाब।
राजा शिवसिंह बुझ रस-भाव॥

व्याख्या- अच्छा हुआ, (जो) नायक (और) नायिका का बचपन चला गया। (परिणाम यह निकला की) पैरों की चंचलता आँखों ने ले ली।

दोनों की आँखें दूत का काम करने लगीं। (अर्थात्-आँखों के इशारे से ही दोनों में बातें होने लगीं।) लज्जा आभूषण होकर परिणत हो गई। (अर्थात्-नायिका में लज्जा का आधिक्य हो गया।)

अब (नायिका) सतत आँचल में हाथ दिये रहती है। (अर्थात्-आँचल में हाथ डालकर कुचमण्डल को छिपाये रहती है।) माथा झुकाकर सखियों से बातें करती है।

(सखी कहती है-) हे कृष्ण! सुनो, सुनो। मैंने निश्चय कर लिया (कि अब) नायक (ही) अपना अवधान करें-चेत करें।

(नायिका की) भौंह धनुष है, कज्जल की रेखा डोरी है। (वह) पुंख को छोड़कर (समूचा बाण = कटाक्ष) मार रही है।

रसमय कवि विद्यापति गाते हैं (और) राजा शिवसिंह इस रस का भाव समझते हैं।

(11)

राहु मेध भए गरसल सूर।
पथ परिचए दिवसहि भेल दूर॥
नहि बरिसए अवसर नहि होए।
पुर परिजन सञ्जर नहि कोए॥
चल चल सुन्दरि कर गए साज।
दिवस समागम सपजत आज॥
गुरुजन परिजन डर कर दूर।

बिनु साहसें अभिमत नहि पूर ॥
एहि संसार सार बथु एह ।
तिला एक सङ्गम जाब जिब नेह ॥
भनइ विद्यापति कवि कण्ठहार ।
कोटिहु न घट दिवस अभिसार ॥

व्याख्या- राहु ने मेघ होकर सूर्य को ग्रस लिया- (अर्थात्-मेघ इस प्रकार घिर आया है कि सूर्य कहीं दिखाई नहीं देता है । जान पड़ता है, जैसे-ग्रहण लगा है ।) दिन में ही मार्ग का परिचय दूर हो गया (रास्ता भुला गया ।)

न बारिश होती है (और) न (जाने-आने का) अवसर होता है । नगर में कोई आदमी नहीं चलता है ।

अरी सुन्दरी ! चलो, चलो । जाकर सजावट करो । आज दिन में ही समागम हो जायगा ।

गुरुजनों (और) परिजनों का भय दूर करो । बिना साहस के अभिप्राय पूर्ण नहीं होता है ।

इस संसार में यही (अभिसार) सार वस्तु है । (यद्यपि इसमें) क्षण-भर का संग होता है; (तथापि) जीवन-पर्यन्त स्नेह रहता है ।

कविकण्ठहार विद्यापति कहते हैं (कि) कोटियों (खरचने) से (भी) दिन का अभिसार नहीं घटित होता है । (अर्थात्-कोटियों खरचने पर भी दिवाभिसार का मौका हाथ नहीं आता ।)

(12) **जइअओ जलद रुचि धएल कलानिधि**
तइअओ कुमुद मुद देइ ।
सुपुरुष वचन कबहु नहि बिचलए
जओ बिहि बामेओ होइ ॥
मालति ककें तोञे होसि मलानी ।
आन कुसुम मधुपान विरत कए
भमर देब मोञेआनी ॥
दिन दुइ चारि आने अनुरञ्जब
सुमरत सउरभ तोरा ।
आनक वचन अनाइति पड़ला हे
से नहि सहजक भोरा ॥

व्याख्या- यद्यपि मेघ ने चन्द्रमा की किरणें ढक रखी हैं, तथापि (वह) कुमुद को हर्ष देता है (प्रसन्न करता है ।)

यदि विधाता वाम भी हो जाय, (तो भी) सुपुरुष का वचन कभी टस-से-मस नही होता है ।

हे मालती ! तुम म्लान क्यों हो रही है ? मैं दूसरे फूलों के मधुपान से विरक्त करके भ्रमर को ला दूँगी ।

(भ्रमर को) दो-चार दिन (ही) दूसरे फूल (सन्तुष्ट करेंगे) । (अन्त में वह) तुम्हारे सौरभ का ही स्मरण करेगा ।

दूसरे के कहने से (वह) पराधीन हो गया है । (वास्तव में) वह स्वभाव का बुद्धू नहीं है ।

(13) **से भल जे बरु बसए विदेसे ।**

पुछिअ पथुक जन ताक उदेसे ॥
पिआ निकटहि बस पुछिओ न पुछइ ।
एहन विरह दुख केदहु सहइ ॥
धनि धैरज कर पिआ तोर रसिया ।
अबसउ दिन एक देत बिहुसिया ॥
मधुरिओ वचन सून नहि काने ।
आब अबसेओ हमे तेजब पराने ॥
भनइ विद्यापति एहु रस भाने ।
राए सिवसिंह लखिमा देइ रमाने ॥

व्याख्या- (नायिका सखी से कहती है-) जो परदेश में रहता है, वही अच्छा है । (कारण,) बटोहियों से उसका उद्देश्य तो पूछा जाता है-उसकी खोज-खबर तो ली जाती है ।

स्वामी समीप में ही रहें; (किन्तु) पूछने के लिए भी नहीं पूछें (अर्थात्-शिष्टाचारवश भी बातें नहीं करें, तो) ऐसा विरह-रूपी दुःख कौन सह सकती है ?

(सखी उत्तर देती है-) हे धन्ये ! धैर्य (धारण) करो । तुम्हारे स्वामी रसिक हैं । (इसलिए) एक दिन (वे) अवश्य विहँस देंगे । (अर्थात्-उनका रूठना खत्म हो जाएगा, वे प्रसन्न हो जायेंगे ।)

(नायिका कहती है-) मेरा मधुर वचन भी (वे) कानों से नहीं सुनते हैं । (इसलिए) मैं अब अवश्य, प्राण तज दूँगी ।

विद्यापति कहते हैं-लखिमा देवी के रमण राजा शिवसिंह इस रस को जानते हैं ।

(14)

लोचन नीर तटिनि निरमाने ।
करए कमलमुखि तथिहि सनाने ॥
सरस मृणाल कइए जपमाली ।
अहनिस जप हरि नाम तोहारी ॥
वृन्दावन कान्हु धनि तप करई ।
हृदय वेदि मदनानल बरई ॥
जिव कर समिध समर करे आगी ।
करित होम बध होएबह भागी ॥
चिकुर बरहि रे समरि करे लेअइ ।
फल उपहार पयोधर देअइ ॥
भनइ विद्यापति सुनह मुरारी ।
तुय पथ हेरइते अछ वरनारी ॥

व्याख्या- (विरहिणी की) आँखों के आँसू से नदी का निर्माण हो गया । कमलमुखी उसी में स्नान करती है ।

हे कृष्ण ! (वह) सरस कमलनाल की जपमाला बनाकर दिन-रात तुम्हारा नाम जपती है ।

हे कृष्ण ! (तुम्हारी) प्रियतमा वृन्दावन में तपस्या करती है । (उसकी) हृदय-रूपी वेदी पर कामाग्नि जल रही है ।

(वह अपने) प्राण की समिधा और कामदेव की आग करके होम कर रही है (यदि वह मर जायगी, तो तुम) वध के भागी हो जाओगे।

सामरी (सुन्दरी) हाथ में केश-रूपी कुश लेकर स्तन-रूपी फल का नैवेद्य दे रही है।

विद्यापति कहते हैं-हे कृष्ण ! सुनो। वह नारी तुम्हारी राह देख रही है।

(15)

अधर सुधा मिठि दूधे धवरि डिठि
मधु सम मधुरिम बानी रे।
अति अरथित जे जतने न पाइअ
सबे बिहि तोहि देल आनि रे॥
जनु रुसह भाविनि भाव जनाइ।
तुय गुने लुबुधल सुपहु अधिक दिने
पाहुन आएल मधाइ॥
जसु गुन झखइते झामरि भेलि हे
रयनि गमओलह जागि रे।
से निधि निधि अनुरागे मिलल तोहि
कन्हु सम पिआ अनुरागि रे॥
भनइ विद्यापति गुणमति राखए
बालभु के अपराध रे।
राजा शिवसिंह रूपनराएन
लखिमा देवि अराध रे॥

व्याख्या- अमृत के समान मीठा अधर, दूध के समान उजली आँखें (और) मधु के समान मधुर वचन ! अत्यन्त अभिप्रेत होने पर (भी) जो यत्न से नहीं पाये जाते, विधाता ने लाकर वे सब तुम्हे दे दिये।

अरी सुन्दरी ! भाव जनाकर (अर्थात्-विश्वास देकर) मत रूठो। (कारण,) तुम्हारे गुणों से लुब्ध होकर बहुत दिनों के बाद स्वामी-कृष्ण-अतिथि होकर आये हैं।

जिसके गुणों से-(अर्थात्-जिसके गुणों का स्मरण करके) झँखती हुई (तुम) जली हुई ईंट के समान काली हो गई, जगकर रातें बिताईं, विधाता के विधान से वह खजाना तुम्हें मिल गया-कृष्ण के समान अनुरागी स्वामी तुम्हें मिल गये।

विद्यापति कहते हैं-गुणवती (स्त्री) स्वामी के अपराध को (छिपाकर) रखती है। राजा शिवसिंह रूपनारायण लखिमा देवी के आराध्य हैं।

(16)

पाहुन आएल भवानी
बाघछाल बइसए दिअ आँनी।
बसह चढल बुढ आवे
धुथुर गजाए भोजन हुनि भावे॥
भसम विलेपित आङ्गे
जटा बसथि सिर सुरसरि गाङ्गे॥
हाडमाल फणिमाल शोभे
डँवरु बजाब हर जुवतिक लोभे॥

विद्यापति कवि भाने
ओ नहि बुढबा जगत किसाने ॥

व्याख्या- हे भवानी ! मेहमान आये हैं। बैठने के लिए व्याघ्रचर्म लाकर दो।

बसहा बैल पर चढ़कर वृद्ध आते हैं। उन्हें धतूरे (और) गाँजे का भोजन भाता है।

भस्म-विलेपित (उनके) अंग हैं। (उनके) सिर पर-जटा में-सुरनदी गंगा वास करती हैं।

हाड़ की माला (और) साँप की माला सोहती है। (वे) युवती से लोभ से डमरू बजाते हैं।

कवि विद्यापति कहते हैं-वे बूढ़े नहीं हैं। (वे तो) संसार को उत्पन्न करने वाले हैं।

(17)

मोर बउरा देखल केहु कतहु जात
बसह चढल बिस पान खात।
आखि निरर मुह चुआइ लार
पथ के चलत बौरा बिसम्भार ॥
बाट जाइते केहु हलब ठेलि
अब ओहि बौरे बिनु मत्रे अकेलि ॥
हाथ डबरु कर लौआ संख
जोग जुगुति गिम भरल माथ।
अरगज चढाए आठहु आङ्ग
सिर सुरसरि जटा बोइल गाङ्ग ॥
विद्यापतीत्यादि ॥

व्याख्या- किसी ने कहीं मेरे पागल को जाते हुए देखा है ? बसहा बैल पर चढ़े हुए (और) विष (तथा) भाँग खाते हुए को (देखा है ?)

(उनकी) आँखें-फटी-फटी हैं। (उनके) मुँह से लार चूती हैं। पागल की नाईं बे-सँभार (वे) मार्ग में चलते हैं।

(हाय !) राह चलते कोई उन्हें ठेल देगा ! उन पागल के बिना अब मैं अकेली हो गई हूँ।

(उनके) हाथ में लौका के साथ डमरू है। योग-मुक्ति से (उनका) माथा भरा है।

(उन्होंने) आठों अंग में अरगजा चढ़ा लिया है। (उनके) सिर पर, जटा में सुरसरि गंगा बोल रही है। (अर्थ-सम्पादकीय अभिमत से।)

(18)

तरुअर बलि धर डारे जाँति
सखि गाढ अलिङ्गन तेहि भाँति।
मत्रे नीन्दे निन्दारुधि करओ काह
सगरि रयनि कान्हु केलि चाह ॥
मालति रस बिलसए भसर जान
तेहि भाति (कान्ह) कर अधर पान ॥
कानन फुलि गेल कुन्द फूल
मालति मधु मधुकर पए जूल।
परिठवइ सरस कवि कण्ठहार
मधुसूदन राधा वन-विहार ॥

व्याख्या- (जिस तरह) तरूवर लता की अपनी डाल से दबाकर रखता है, हे सखी ! उसी तरह (श्रीकृष्ण) गाढ़ आलिगन देते हैं।

मैं निद्रावरुद्ध हूँ क्या करूँ ? कृष्ण सारी रात केलि चाहते हैं।

(जिस प्रकार) भ्रमर मालती के रस का विलास करना जानता है, उसी प्रकार (कृष्ण) अधर पान करते हैं।

जंगल में कुन्द का पुष्प विकसित हो गया। मालती के मधु से भौंरा भी जुड़ा गया।

सरस कवि कण्ठहार (विद्यापति) राधा-कृष्ण का वन-विहार प्रस्तुत करते हैं।

(19)

चल देखने जाउ ऋतु वसन्त
जहा कुन्द कुसुम कैतव हसन्त ॥
जहा चन्दा निरमल भमर कार
रयनि उजागरि दिन अन्धार ॥
मुगुधलि मानिनि करए मान
परिपन्तिहि पेखए पञ्चवान ॥
परिठवइ सरस कवि कण्ठहार
मधुसूदन राधा वन विहार ॥

व्याख्या- चलो, जहाँ कुन्द, कुसुम और केतकी खिलती हैं, (उस) बसन्त ऋतु को देखने चलें।

जहाँ निर्मल चन्द्रमा है, (जहाँ) काले भ्रमर हैं। (निर्मल चन्द्रमा के कारण जहाँ) रातें उजली हैं (और काले भ्रमरों के कारण जहाँ) दिन अन्धकारमय हैं।

(जहाँ) मुग्धा मानिनी मान करती है (अर्थात्, ज्ञाताज्ञातयौवना ही मान करती है। और) कामदेव (अपने) प्रतिपक्षी को घूर रहा है।

सरस कवि कण्ठहार (विद्यापति) राधा-कृष्ण का वन-विहार प्रस्तुत कर रहे हैं।

(20)

कंटक माझ कुसुम परगास
भमर बिकल नहि पाबए पास (क) ॥
रसमति मालति पुनु पुनु देखि
पिबए चाह मधु जीव उपेषि (क) ॥ ध्रु. ॥
भमरा विकल भमए सब ठाम
तोह बिनु मालति नहि बिसराम ॥
ओ मधुजीवी तजे मधुरासि
साचि धरसि मधु तजे न लजासि ॥
अपने मने धनि बुझ अवगाहि
तोहर दुषन बध लागत काहि ॥
भनइ विद्यापतीत्यादि ॥

व्याख्या- काँटों के बीच फूल खिल रहा है व्याकुल भ्रमर पास तक नहीं पहुँच पाता।

रसवती मालती को बार-बार देखकर (अपने) जीवन की उपेक्षा करके (वह) मधु पीना चाहता है।

व्याकुल भ्रमर सब जगह घूमता है, हे मालती ! (परन्तु) तुम्हारे बिना (उसे) विश्राम कहाँ ?

वह मधुजीवी है (और) तुम मधु का समूह हो। मधु को जुगाकर रखती हो। क्या तुम्हें लज्जा नहीं होती।

हे धन्ये ! अपने मन में विचार कर समझो। तुम्हारा दोष है, (फिर) वध किसे लगेगा ?

नीले वस्त्र में तुम्हारे शरीर का रंग (ऐसा मालूम होगा, जैसे) अन्धकार में चन्द्रमा या बिजली की तरंग हो।

तुम्हारा मुख पूर्ण चन्द्रमा के समान है। (इस) हँसते हुए चन्द्रमा का अमृत चकोर (कृष्ण) पान करेगा।

कबीर

(21) **सतगुर सवाँन को सगा, सोधि सईं न दाति।**
हरिजी सवाँन को हितू, हरिजन सईं न जाति ।।1 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- (इस संसार में) सद्गुरु के समान अपना कोई निकट संबंधी नहीं है। तत्वशोधन वा प्रभु खोज करने वाले साधु के समान कोई दाता नहीं क्योंकि वह अपना समस्त ज्ञानार्णव शिष्य में उड़ेल देता है। दयालु प्रभु तुल्य अपना कोई हितैषी नहीं है और प्रभुभक्तों के समान कोई जाति नहीं है। अर्थात प्रभु-भक्त सब मनुष्यों में श्रेष्ठ हैं।

विशेष- अनन्वयोपमा, अनुप्रास एवं यमक अलंकार।

(22) **बलिहारी गुरु आपणैं, द्यौं हाड़ी कै बार।**
जानि मानिष तैं देवता, करत न लागी बार ।।2 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- मैं शरीर को अपने गुरु के ऊपर वार न्यौछावर करूँ, मैं उनकी बलि-बलि जाता हूँ, जिन्होंने अत्यन्त अल्प समय में मुझे मनुष्य से देवता बना दिया अर्थात् मेरी मानवीय दुर्बलताओं को नष्ट कर मुझे दिव्यगुण युक्त कर दिया।

विशेष- 'बार' में यमक अलंकार; अर्थ-शक्ति उद्भव स्वत: सम्भवी वस्तु में अलंकार ध्वनि। 'गुरु ब्रह्मा से बढ़कर है, क्योंकि वह क्षणमात्र में मनुष्य को देवता बनाता है', यह ध्वनि व्यतिरेक अलंकार के रूप में है।

(23) **सतगुर की महिमा अनंत, अनंत किया उपगार।**
लोचन अनंत उघाड़िया, अनंत दिखावणहार ।।3 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- सद्गुरु की महिमा अपरम्पार है, उन्होंने मेरे साथ महान् उपकार किया है। उन्होंने मेरे (चर्मचक्षुओं के स्थान पर) ज्ञान-चक्षु खोल दिये, दिव्य-दृष्टि प्रदान कर दी, जिसके द्वारा उस अनन्त ब्रह्म के दर्शन हो गये।

विशेष- यमक अलंकार।

(24) **राम नाम लै पटंतरै, देबे को कुछ नांहि।**

क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन मांहि ।।4 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है ।

व्याख्या- गुरु ने राम-नाम का जो अमूल्य मन्त्र दिया है उसके बदले में देने के लिये मेरे पास कुछ नहीं है । क्योंकि उस राम-नाम के सम्मुख समस्त वस्तुएँ तुच्छ और हेय हैं, फिर भला मैं क्या देकर गुरुदेव को सन्तुष्ट करूँ-यही प्रबल अभिलाषा मेरे मन में हुमक कर रह जाती है ।

विशेष- उपमान न मिलने से उपमानलुप्ता उपमा ।

(25) **सतगुर के सदकै करूं, दिल अपणीं का साछ ।**
कलियुग हम स्यूं लडि पड्या, मुहकम मेरा बाछ ।।5 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है ।

व्याख्या- मैं सद्गुरु पर प्राणपण से न्यौछावर हूँ एवं अपने हृदय को साक्षी करके कहता हूँ कि कलिकाल अर्थात् विविध मायामोह के प्रपंच मुझसे मूझ रहे हैं, पापों का और मन का संघर्ष चल रहा है, किन्तु शक्तिसम्पन्न गुरुवर मेरे रक्षक हैं, अत: पाप-पुंज मुझे परास्त नहीं कर सकते ।

विशेष- मानवीकरण ।

(26) **सतगुरु लई कमांण करि, बाँहण लागा तीर ।**
एक जु बाह्या प्रीति सूं, भीतरि रह्या सरीर ।।6 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है ।

व्याख्या- सद्गुरु ने हाथ में धनुष धारण कर लिया एवं तीरों की बर्षा करने लगे अर्थात् अध्यवसायपूर्वक, प्रयत्नपूर्वक शिष्य को उपदेश देना प्रारम्भ कर दिया । इन उपदेश बाणों में एक बाण इस प्रकार प्रेमपूर्वक चलाया जिसने अन्तर को बेधकर हृदय में घर कर लिया । हृदय तक बाण को पहुँचने के लिये मध्य के समस्त अन्धावरण बेधने पड़े हैं, इसीलिए वह हृदय में जाकर रह गया । यह बाण था प्रेम का ।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति (केवल उपमान पक्ष धनुष-बाण का उल्लेख होने से); भक्ति-रस ।

(27) **सतगुर सांचा सूरिवाँ, सवद जु बाह्या एक ।**
लागत ही मैं मिल गया, पड्या कलेजे छेक ।।7 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है ।

व्याख्या- सद्गुरु सच्चे शूरवीर हैं । जिस प्रकार रणभूमि में सूर अपने विरोधी-पक्ष को बाण-वर्षा से परास्त कर देता है, उसी प्रकार उस सद्गुरु रूपी शूर ने 'शब्द' (उपदेश) का बाण चलाया । उनके लगते ही मेरा 'मैं' अर्थात् अहं नष्ट हो गया अथवा उसके लगते ही मेरा आत्म-ज्ञान से साक्षात्कार हो गया । उस बाण के लगते ही हृदय में प्रेम की टेक का छिद्र हो गया । तात्पर्य यह है कि यह प्रेम उस सद्गुरु के उपदेश रूपी बाण का ही परिणाम है ।

विशेष- सांगरूपक अंलकार ।

(28) **सतगुर मार्या बाण भरि, धरि करि सूधी मूठि ।**
अंगि उघाड़ै लागिया, गई दवा सूं फूटि ।।8 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है ।

व्याख्या- सद्गुरु ने साधक के ऊपर यह उपदेश-बाण पूर्ण शक्ति से खींचकर एवं मूठ को लक्ष्योन्मुख करके सीधा कर मारा जिससे दावाग्नि सी फूट पड़ी । समस्त वासना, माया आदि जल-जल

कर क्षार होने लगे एवं साधक शरीर के वस्त्र, माया आदि आवरण, उतार कर फेंकने लगा अर्थात् उसका वस्तुस्थिति से साक्षात्कार हो गया।

विशेष- उपमा एवं सांगरूपक अलंकार।

(29) हँसै न बोलै, उनमनीं, चंचल मेल्हा मारि।
कहे कबीर भीतरि भिद्या, सतगुर कै हथियारि ।।9 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- योग की उन्मन दशा का वर्णन करते हुए कबीरदास जी कहते हैं कि मन की चंचल वृत्तियों को समाप्त कर सद्गुरु के उस उपदेश के (प्रेम के) बाण ने हृदय को बेध दिया। परिणामस्वरूप शिष्य न हँसता है और न बोलता है अर्थात् सांसारिक हासविलास तथा राग विलास से असम्पृक्त हो गया है।

विशेष- 1. रूपकातिशयोक्ति। प्रयोजनवती गूढ़ व्यंग्या लक्षणा। शिष्य में चंचलता का अत्यन्ताभाव व्यंग्य है।

2. **उन्मनी अवस्था-** हठयोग या राजयोग की सिद्धावस्था है, जिसमें मन समाधिस्य होकर पहुँचता है।

(30) गूंगा हूवा बाबला, बहरा हुआ कान।
पाउं थैं पंगुल भया, सतगुर मार्या बाण ।।10 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "गुरुदेव कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- सद्गुरु के उपदेश-बाण के लगते ही शिष्य गूंगा, पागल कानों से बहरा और पैरों से लँगड़ा हो गया। भाव यह है कि शिष्य वाणी का दुरुपयोग व्यर्थ के वाद-विवाद में नहीं करता एवं उसके कान भी प्रेम-भक्ति चर्चा के अतिरिक्त अन्य विषयों के लिए बहरे हैं एवं सांसारिक प्रयत्न से विरत होने के कारण लँगड़ा हो गया। इस विशेष स्थिति के कारण ही उसे पागल बताया गया है।

विशेष- गूढ़ व्यंग्या प्रयोजनवती लक्षणा। शिष्य को प्राप्त होने वाली परमशान्ति व्यंग्य है।

(31) कबीर कहता जात हूँ, सुणता है सब कोइ।
राम कहें भला होइगा, नहिं तर भला न होइ ।।1 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह निरन्तर प्रस्थापित करता आ रहा हूँ कि राम-नाम जपने से ही कल्याण होगा अन्यथा आचरण में कल्याण सिद्ध नहीं होगा; इस बात को सुनते तो सब हैं, किन्तु आचरण नहीं करते।

विशेष- शब्द-योजना से कवि के व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति हुई है।

(32) कबीर कहै मैं कथि गया, कथि गया ब्रह्म महेस।
राम नांव ततसार है, सब काहू उपदेस ।।2 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीरदास जी कहते हैं कि मैं यह कह चुका हूँ कि राम नाम (भगवान् नाम) ही समस्त तत्वों का सार है, यही सबका उपदेश है। इसी तथ्य का कथन ब्रह्मा एवं शिव ने किया है।

विशेष- मिथ्य बिम्ब के द्वारा कथ्य को प्रभावपूर्ण बनाया गया है।

(33) तत तिलक तिहूँ लोक मैं, राम नांव निज सार।
जन कबीर मस्तक दिया, सोभा अधिक अपार ।।3 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- सार-तत्व राम-राम तीनों लोकों में सर्वश्रेष्ठ है। उसी को दास कबीर ने अपने मस्तक पर धारण किया है अर्थात् उसे शिरसा स्वीकार किया है। भाव यह है कि कबीर चन्दनादि का तिलक धारण करना नहीं चाहते, अपितु राम नाम ही उनके लिए तिलक है, सर्वोपरि तत्व है।

विशेष- रूपक द्वारा राम-नाम की महत्ता को मूर्तिमान किया गया है।

(34) भगति भजन हरि नाँव है, दूजा दुक्ख अपार।
मनसा बाचा कर्मनां, कबीर सुमिरण सार ।।4 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- प्रभु भक्ति और भजन जो कुछ भी है वह उनका नाम स्मरण ही है, इसके लिए जो अन्य साधन बताये गये हैं वे अमित दु:खों से परिपूर्ण हैं। कबीर कहते हैं कि मन, वाणी और कर्म से सर्वात्मना प्रभु नाम स्मरण ही सर्वश्रेष्ठ है।

विशेष- इसमें कबीर निर्गुण सम्प्रदाय के होते हुए भी हरि-कीर्तन को महत्व देते हैं, इससे यह ज्ञात होता है कि भक्ति-आन्दोलन का प्रभाव उनके समय तक बहुत व्यापक हो गया था। सूफियों में भी स्मरण का महत्व है, अत: कीर्तन को महत्व प्रदान करने में कबीर को कोई कठिनाई नहीं हुई।

(35) कबीर सुमिरण सार है, और सकल जंजाल।
आदि अंति सब सोधिया, दूजा देखौं काल ।।5 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि एकमात्र प्रभु नाम स्मरण ही समस्त तत्वों का सार है और इसके अतिरिक्त हरि भक्ति के अन्य सांसारिक साधन जाल हैं जिनमें से निकलने का प्रयत्न करने पर मनुष्य और फँस जाता है। मैंने सांसारिक साधनों का आदि और अवसान अथवा अथ से इति तक अवलोकन करके देख लिया, वे काल स्वरूप विनाशकारक हैं।

विशेष-रूपक अलंकार।

(36) च्यंता तौ हरिं नाँव की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवैं राम बिन, सोइ काल की पास ।।6 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या-भक्त को यदि कुछ चिन्ता रहती है तो केवल हरिनाम स्मरण की, अन्य कोई चिन्ता नहीं। राम नाम के अतिरिक्त व्यक्ति जो कुछ चिन्तन करता है, वह मृत्यु के फन्दे के समान है, अर्थात् उसके नाश का कारण है।

विशेष- अन्तिम पंक्ति में अप्रस्तुत के धर्म का अरोप प्रस्तुत पर है, अत: निदर्शना अलंकार है।

(37) पंच संगी पिव पिव करै, छठा जु सुमिर मंन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतंन ।।7 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीरदास की पाँचों ज्ञानेन्द्रियों एवं छठे मन ने प्रभु के प्रिय नाम की रट (चातक के समान, क्योंकि 'पीव' शब्द है) लगा रखा है और ऐसी स्थिति में कबीर अपनी समाधि अवस्था में पहुँच गये हैं, जहाँ उन्हें राम के अतिरिक्त और कोई नहीं सूझता। अत: वे कहते हैं कि मैंने राम रूपी रत्न प्राप्त कर लिया है।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति तथा रूपक।

(38) **मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहिं आहि।**
अब मन रामहिं ह्वै रह्या, सीस नवावौं काहि ॥8 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि राम-नाम का स्मरण करते-करते मेरा मन स्वयं ही राम में ही रम गया है और इससे भी आगे अब वह स्वयं राममय हो गया है। जब स्वयं मन ही राममय हो गया तो सीस किसे नवाजा जाय; अर्थात् भक्त और भगवान ही नाम स्मरण से एक हो गये हैं।

विशेष- यह भक्ति की चरम उपलब्धि है जब भक्त और भगवान् एकाकार हो जाते हैं। यहीं शंकर के अद्वैत की अहं ब्रह्मास्मि की भावना आ जाती है।

(39) **तूं तूं करता तूं भया, मुझ मैं रही न हूँ।**
बारी फेरी बलि गई, जित देखौं तित तूँ ॥9 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- हे प्रभु मैं तेरा नाम स्मरण करते-करते तेरे स्वरूप में ही विलीन हो गया, मुझमें किंचित् भी अहंत्व शेष नहीं रह गया; अर्थात् मुझे अपने पृथक् अस्तित्व का ज्ञान ही न रहा। अब मैं प्रभु तेरे ऊपर बार-बार बलिहारी जाता हूँ क्योंकि जिधर देखता हूँ, उधर तू ही दृष्टिगत होता है।

विशेष- 'सर्व खल्विद्र ब्रह्म' की भावना से साम्य है।

(40) **कबीर निरभै राम जपि, जब लग दीवै बाति।**
तेल घट्या बाती बुझी, (तब) सोवैगा दिन राति ॥10 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "सुमिरण कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि हे मनुष्य! जब तक तेरे शरीर रूपी दीपक में जीवन रूपी वर्तिका है, तब तक तू सांसारिक भ्रमों एवं चिन्ताओं से मुक्त होकर राम नाम का स्मरण कर। व्यर्थ आलस्य-सुषुप्ति-में अपना जीवन मत गँवा, क्योंकि जब श्वास रूपी तेल समाप्त हो जाने पर जीवन-वर्तिका बुझ जायेगी तब अहर्निश चिरनिद्रा (मृत्यु) में ही सोवेगा; अर्थात् प्रभु भक्ति के लिए ही तुझे यह जीवन मिला है।

विशेष-रूपकातिशयोक्ति।

(41) **रात्यूं रूंनी बिरहनीं, ज्यूं बंचौ कूं कुंज।**
कबीर अंतर प्रजल्या, प्रगट्या बिरहा पुंज ॥1 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या-परम तत्व की विरहिणी आत्मा रात्रि भर इस प्रकार रोती रही, जिस प्रकार वियुक्त क्रौंच पक्षी करुण चीत्कार करता रहा है। कबीर जी कहते हैं कि विरह समूह के प्रकट होने से हृदय वियोग-ज्वाला में दग्ध हो रहा है।

विशेष- रूपक। प्रस्तुत रूपक में रूढ़ मिथ्य का प्रयोग है। सुमित्रानन्दन पन्त ने भी कविता की उत्पत्ति के संबंध में इस मिथ्य का प्रयोग किया है।

(42) **अंबर कुंजां कुरलियाँ, गरजि भरे सब ताल।**
जिनि थैं गोबिंद बीछुटे, तिनके कौण हवाल ।।2 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- आकाश ने क्रौंच एवं कुररि पक्षियों की विरहानुभूति पर करुणार्द्र हो बरस कर समस्त ताल जल से परिपूर्ण कर दिये, इन विरहियों की पुकार तो बादल ने सुन भी ली किन्तु जो प्रभु वियुक्त हैं, उनका रक्षक तो (प्रभु के अतिरिक्त) और कोई नहीं है।

विशेष- शब्द-शक्ति उद्‌भव वस्तु से अलंकार ध्वनि है, व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है।

(43) **चकवी बिछुटी रैणि की, आइ मिली परभाति।**
जे जन बिछुटे राम सूं, ते दिन मिले न राति ।।3 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- रात्रि की बिछुड़ी हुई चकवी अपने चकवे से प्रभात के आगमन पर मिल जाती है, किन्तु जो राम से वियुक्त हैं वे तो दिन या रात कभी उनसे मिल नहीं पाते।

विशेष- 1. एक प्रकार से कबीर के इस वियोग का उद्दीपन विभाव-वर्णन है जिसमें विरहिणी आत्मा को एक वियुक्तयुग्म का मिलन देखकर अपना मिलना खटकता है।

2. यह विश्वास है कि चकवा और चकवी दिन छिपते ही अलग-अलग हो कर एक-दूसरे के विरह में तड़पते हैं और प्रभात में मिल जाते हैं।

(44) **वासुरि सुख, नां रैणि सुख, नाँ सुख सुपिनै माहिं।**
कबीर बिछुट्या राम सूं, नां सुख धूप न छाँह ।।4 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर जी कहते हैं कि रामवियोगी को न दिन में और न रात में सुख है और न स्वप्न में-उसे प्रिय की वियोग-व्यथा की व्यथित किये रहती है। धूप या छाँह-कहीं भी उसे सुख प्राप्त नहीं होता।

विशेष- प्रस्तुतालंकार, विप्रलम्भ श्रृंगार।

(45) **बिरहनि ऊभी पंथ सिरि, पंथी बूझै धाइ।**
एक सबद कहि पीव का, कबर मिलैंगे आइ ।।5 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- विरहिणी मार्ग में प्रिय की प्रतीक्षा में खड़ी आते-जाते पथिक से जिस प्रकार उत्कण्ठा सहित प्रिय आगमन का समाचार पूछती है उसी प्रकार साधक की ब्रह्म वियुक्त आत्मा गुरू से प्रिय (ब्रह्म की) चर्चा सुनती हुई यह जानना चाहती है कि प्रभु से कब भेंट होगी।

विशेष- प्रस्तुतालंकार (लौकिक एवं आध्यात्मिक प्रेम की व्यंजना एक ही विभाव के माध्यम से युगपत के रूप से हो रही है, अत: यहाँ प्रस्तुत-अप्रस्तुत का निर्णय न होने से प्रस्तुतालंकार है।)

(46) **बहुत दिनन की जोवती, बाट तुम्हारी राम।**
जिव तरसै तुझ मिलन कूँ, मनि नाहीं विश्राम ।।6 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- हे राम ! मैं (विरहिणी आत्मा) तुम्हारी प्रतीक्षा बहुत समय से कर रही हूँ। मेरे प्राण तुम्हारे दर्शन के लिये तृषित हैं और मन बिना दर्शन व्याकुल है।

विशेष- प्रस्तुतालंकार, विप्रलम्भ श्रृंगार।

(47) बिरहिन ऊठै भी, पड़ै दरसन कारनि राम।
मूवां पीछै देहुगे, सो-दरसन किंहि काम ॥7 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- हे राम ! यदि आपके दर्शनों की उत्सुकता में विरहिणी उठती भी है तो क्षीणकाय होने के कारण गिर-गिर पड़ती है, अर्थात् आपके विरह में वह अत्यन्त कृशकाय हो गई है। उससे मरणोपरान्त यदि आपने रोग निवारक सुदर्शन चूर्ण-अपना सौन्दर्यमय स्वरूप दर्शन दिया तो वह किस प्रयोजन का ?

विशेष- "का वर्षा जब कृषी सुखाने" से तुलना कीजिए।

(48) मुवां पीछैं जिनि मिलै, कहै कबीरा राम।
पाथर घाटा लोह सब, (तब) पारस कोणैं काम ॥8 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर जी कहते हैं कि हे प्रभु ! यदि आपका दर्शन मृत्यु के पश्चात् हुआ तो वह किस प्रयोजन कर ? वह तो उसी प्रकार निरर्थक है जिस प्रकार कोई पारस पत्थर की प्राप्ति के लिए लोहे को प्रत्येक पत्थर से घिर कर समाप्त कर दे और तब उसे पारस पत्थर की प्राप्ति हो।

विशेष- प्रस्तुतालंकार है। दृष्टान्त अलंकार द्वारा वेदना की व्यंजना में सहायता मिली है। वियोग श्रृंगार का उत्तम परिपाक है।

(49) अंदेसड़ा न भाजिसी, संदेशौं कहियां।
कै हरि आयां भाजिसी, कै हरि ही पास गयां ॥9 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- विरहिणी आत्मा किसी दूत से कहती है कि मेरी प्रिय मिलन में असफलता की आशंका नष्ट नहीं होती। अत: तुम प्रभु से कहना कि या तो वे स्वयं भागकर शीघ्र मेरे पास आ जायें, अथवा फिर मुझे ही उनके पास आना पड़ेगा।

विशेष- प्रस्तुतालंकार है। विप्रलम्भ श्रृंगार का उत्तम परिपाक हुआ है।

(50) आइ न सकौं तुज्झ पैं, सकूं न तुझै बुलाइ।
जियरा यौं ही लेहुगे, बिरह तपाइ तपाइ ॥10 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर की वियोगिनी आत्मा कहती है कि मैं तेरे पास भी नहीं आ सकती क्योंकि मैं इतनी समर्थ नहीं हूँ। (भाव यह है कि मैं अभी माया में संलिप्त हूँ) और तुझे अपने पास नहीं बुला सकती क्योंकि मैं अभी सर्वात्म-समर्पण नहीं कर सकी, जो तुझे आकृष्ट कर मेरे पास तक ले जाये। अत: यही दिखाई देता हैकि तुम हमारे प्राणों को इसी प्रकार विरह में तपाते-तपाते समाप्त कर दोगे।

विशेष- प्रस्तुतालंकार। विप्रलम्भ श्रृंगार का उत्तम परिपाक।

(51) दीपक पाबक आँणिया, तेल भी आण्या संग।
तीन्यूं मिलि करि जोइया, (तब) उड़ि उड़ि पड़ैं पतंग ॥1 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- जीवात्मा रूपी दीपक में ज्ञान-ज्योति प्रज्वलित कर तथा उसमें स्नेह (तेल) डालकर प्रदीप्त किया। इस प्रकार जब तीनों आत्मा, ज्ञान एवं स्नेह मिलकर एकत्रित हो प्रदीप्त हुए तब उसकी अग्नि शिक्षा में विषय वासना रूपी पतंगे गिर-गिरकर नष्ट होने लगे।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति अलंकार।

(52) **मार्या है जे मरेगा, बिन सर थोथी भालि।**
पड्या पुकारै बिछ तरि, आज मरैं कै काल्हि ।।2 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- जो मारा गया है वह तो बिना फलक के छंछे भाले से ही मर सकता है। भाव यह है कि मरण के लिए हिंसापूर्ण शस्त्रों की आवश्यकता नहीं, अपितु जीवन्मुक्त होने के लिए प्रेम का बाण ही पर्याप्त है। उस बाण के लगते ही वह वेदनाकुल होकर संसार-वृक्ष के नीचे पड़ा कराह रहा है, पीड़ा का अनुभव कर इस प्रतीक्षा में है कि वह आज जीवन्मुक्त होगा या कल। अथवा यह संसार वृक्ष के नीचे पड़ा वेदनाकुल है आज या कल में ही अर्थात् शीघ्र ही उसे प्रिय की प्राप्ति हो जायेगी।

विशेष- 1. यहाँ रूपक तथा विभावना की संसृष्टि है। 2. अलंकार से वस्तु-ध्वनि है। ध्वनित वस्तु साधक की मनोदशा और गुरु की महत्ता है।

(53) **हिरदा भीतरि दौं बलै, धूवां न प्रगट होइ।**
जाकै लागी सौ लखै, कै जिहि लाई सोइ ।।3 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- हृदय के भीतर प्रेम की दावाग्नि धधक रही है किन्तु उसका धुआँ प्रकट नहीं होता, वह तो भीतर ही भीतर जलती रहती है। इस अग्नि का अनुभव तो दो ही कर सकते हैं, या तो वह जिसके हृदय में यह अग्नि धधकती है और या फिर वह जो इस अग्नि को लगाने वाला है। शेष संसार इस अग्नि का धुआँ अर्थात् कुछ भी चिन्ह नहीं देख पाता।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति तथा विशेषोक्ति। अलंकार से अलंकार-ध्वनि का प्रयोग है। व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है।

(54) **झल ऊठी झोली जली, खपरा फूटिम फूटि।**
जोगी था सो रमि गया, आसणि रही विभूति ।।4 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- योगाग्नि प्रज्वलित होने पर शरीर की झोली तो जलकर भस्म हो गई और खोपड़ी रूपी खप्पर टूट-फूट गया। योगी की आत्मा तो परम तत्व से मिल गई, उसके समाधि-स्थान पर तो केवल शरीर की राख ही अवशिष्ट रह पाई।

भाव यह है कि आत्मा के महामिलन में योगी को वेशादि बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति द्वारा साधक की सिद्धावस्था को व्यंजित किया गया है, अत: यहाँ अलंकार से ध्वनित वस्तु-ध्वनि है।

(55) **अगनि जु जागी नीर मैं, कदूं जलिया झारि।**
उतर दषिण के पंडिता, रहे विचारि विचारि ।।5 ।।

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- माया रूपी जाल में ज्ञानाग्नि लग जाने से विषय वासना का पंक जल कर समाप्त हो गया। इस अद्‌भुत कृत्य को देख (कि पानी में आग कैसे लग गई) उत्तर से लेकर दक्षिण तक के ज्ञानी विचार-विचार कर रह गये, किन्तु यह रहस्य उनकी समझ में न आया।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति के द्वारा साधक की सिद्धावस्था व्यंजित हुई है। पूरी साखी में व्यतिरेक अलंकार ध्वनित है, इस तरह अलंकार से अलंकार ध्वनि है।

(56) दौं लागी साइर जल्या, पंषी बैठे आइ।
दाधी देह न पालवै, सतगुर गया लगाय ॥6 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- ज्ञानाग्नि के लगने से वासना का सागर भस्म हो गया और नवीन सृष्टि में (ज्ञानयुक्त होने पर) वैराग्य, विवेक, करुणा आदि गुणों के पक्षी आकर चहचहाने लगे। इस दग्ध वासना-शरीर का मैं पुनः पल्लवित नहीं होने दूँगा क्योंकि सतगुरु ने ज्ञान-अग्नि लगा दी है।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा परम सिद्धि रूपी वस्तु ध्वनित हुई है।

(57) गुर दाधा चेला जल्या, बिरहा लागी आगि।
तिणका बपुड़ा ऊबर्या, गलि पूरै कै लागि ॥7 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- गुरु ने प्रेमाग्नि को प्रज्वलित किया, उसमें चेला जल गया; अर्थात् प्रभु-प्रेम में मग्न हो गया, किन्तु इसकी विरहानुभूति से वह तभी मुक्त हुआ जब तृण तुल्य स्वतंत्र अस्तित्वहीन आत्मा पूर्ण ब्रह्म में लीन हो गई।

भाव यह है कि प्रभु मिलन से ही मुक्ति हो सकती है।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति अलंकार। अलंकार से सिद्धि रूप वस्तु ध्वनित है।

(58) अहेड़ी दौं लाइया, मृग पुकारे रोइ।
जा बन में क्रीला करी, दाझत है बन सोइ ॥8 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- सद्‌गुरु रूपी आखेटक ने माया के विषय-वासनायुक्त वन में ज्ञान की अग्नि लगा दी। जीव रूपी मृग यह पुकार कर रो उठे कि जिस वन में हमने क्रीड़ायें कर सुख भोग प्राप्त किया वही जल रहा है।

विशेष- मृगों को पकड़ने या मारने के लिए आखेटक सम्पूर्ण वन में आग लगा देते हैं। वन में आग लगती देख मृग सम्मुख आ जाते हैं और आखेटक उन्हें अपने बाणों का लक्ष्य बना लेता है। यही रूपक कबीर ने यहाँ प्रयुक्त किया है।

(59) पाणी मांहैं प्रजली, भई अप्रबल आगि।
बहती सलिता रह गई, मंछ रहे जल त्यागि ॥9 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- विषय-वासना रूपी जल में ज्ञान की आग लगाकर तीव्र वेग से फैल गई। ज्ञान ने सम्पूर्ण माया बन्धन को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। माया की सरिता का प्रवाह रुक जाने से जीवों ने जल-संसार का परित्याग कर दिया; अर्थात् वे जीवन्मुक्त हो गये।

विशेष- इस साखी में सिद्ध नाथों के रुढ़ प्रतीकों का प्रयोग हुआ है।

(60) **समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोयला भई।**
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई ॥10॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "ग्यान विरह कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- संसार समुद्र में ज्ञान की अग्नि लग गई जिससे विषय-वासना और सांसारिक आकर्षणों की सरितायें जल के कोयले के समान शुष्क हो गईं, किन्तु कितनी ही मछलियाँ रूपी आत्माएँ इस विनाश चक्र में न पड़ीं। वे तो अपनी साधना द्वारा ब्रह्मलीन हो गईं (रुषां चढ़ि गई) अत: हे कबीर ! तू इस स्थिति को देखकर जाग और साधना द्वारा तू भी ब्रह्म को प्राप्त कर।

विशेष- विरोधाभास अलंकार।

(61) **कबीर तेज अनंत का, मानौ ऊगी सूरज सेणि।**
पति सँगि जागी सुन्दरी, कौतिग दीठा तेणि ॥1॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि उस परमात्मा के सौन्दर्य का तेज ऐसा भासमान है मानो अनेक सूर्यों की श्रेणी अथवा सेना उदित हुई हो। पति अर्थात् स्वामी (क्योंकि आत्मा 'राम की बहुरिया') ब्रह्म के साथ (अज्ञानरात्रि से) जागकर उसने यह सौन्दर्यमय आश्चर्यपूर्ण दृश्य देखा।

विशेष- अज्ञानरात्रि से केवल आत्मा ही जागती और तब प्रिय-परमात्मा-का संयोग पा वह आनन्दमय दृश्यावलोकन करती है।

(62) **कौतिग दीठा देह बिन, रवि ससि बिना उजास।**
साहिब लेवा मांहि है, बेपरवांही दास ॥2॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- जिस स्वामी-ब्रह्म-का सौन्दर्य देखा गया वह अशरीरी था, निराकार के सौन्दर्य का ही वह दर्शन था। यह उसी के समान था जैसे कोई सूर्य और चन्द्र न देखकर केवल मात्र उसके प्रकाश का दर्शन करे। (सत्य तो यह है कि) प्रभु जन-सेवा से ही प्राप्य है, उसमें भक्त भी निश्चिन्त हो जाता है।

विशेष- (1) "साहिब सेवा मांहि" -से तात्पर्य जन-सेवा इसलिए है कि जन-सेवा ही वस्तुत: नारायण सेवा है, मनुष्य उसी का तो अंश है। अंश की सेवा अंशी की ही सेवा है। कबीर का यह दृष्टिकोण अत्यन्त सामाजिक और लोकमंगल की भावना से ओत-प्रोत है।

(2) विभावना अलंकार।

(63) **पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।**
कहिबे कूँ सोभा नहीं, देख्या ही परवान ॥3॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- उस प्रभु के तेजयुक्त सौन्दर्य को वाणी द्वारा नहीं कहा जा सकता, कहने में उस अनुपम रस की शोभा ही नहीं। उस सौन्दर्य का अनुमान भी कोई नहीं लगा सकता, वह तो एकमात्र दर्शन का ही विषय है।

विशेष- विशेषोक्ति अलंकार।

(64) **अगम अगोचर गमि नहीं, तहाँ जगमगै जोति।**
जहाँ कबिरा बंदिगी, (तहा) पाप पुण्य नहीं छोती ॥4॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- वह परम-तत्व अगम्य और अगोचर है (साधारण व्यक्तियों के लिए, साधना से तो उसकी प्राप्ति हो ही जाती है)। इसलिए जहाँ उस परमात्मा की ज्योति अपना प्रकाश विकीर्ण करती है वह स्थान भी अगम्य और अगोचर है। कबीर जिस ब्रह्म सम्मुख शिरसा श्रद्धावनत है, वह पाप-पुण्य और छुआछूत सबकी परिधि से परे है, अर्थात् सब उसका भजन कर सकते हैं।

विशेष- विरोधाभास अलंकार।

(65) हदे छाड़ि बेहदि गया, हुआ निरंतर वांस।
कवल ज फूल्या फूल बिन, को निरषै निज दास ॥5 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- जब मैं संसार से अपना संबंध विच्छिन्न का निस्सीम की साधना में प्रवृत्त हुआ, तो मैं उसकी सीमा में ही निरन्तर रहने लगा अर्थात् आत्मा और परमात्मा का मिलन हो गया। वहाँ पहुँच कर मैंने देखा कि एक कमल बिना मृणाल के भी वहाँ प्रफुल्ल विकास पा रहा है (संसार माया से असम्पृक्त ईश्वर का सौन्दर्य मृणाल के कमल का विकास है, जीवात्मा के सन्दर्भ में भी यह अर्थ लगाया जा सकता है कि इस संसार में माया-जनित आकर्षणों में ही वह आनन्द पाता था, किन्तु निस्सीम की सीमा में पहुँचकर बिना इस माया से जुड़े भी वह आनन्द पा रहा है)। इसको प्रभु भक्त के अतिरिक्त अन्य कोई नहीं देख सकता।

विशेष- "फूल्या फूल बिन" में फूल से तात्पर्य उस कमल मृणाल से ही है, जिसके द्वारा वह अपना जीवन रस ग्रहण करता है। यदि 'फूल' का अर्थ 'फल' ही लगाया जाये तो कमल के खिलने की बात की कोई तुक नहीं बैठती।

(66) कबीर मन मधकर भया, रह्या निरंतर बास।
कबल ज फूल्या जलह बिन, को देखै निज दास ॥6 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीर कहते हैं कि मैंने ऐसा कमल (परमात्मा) देखा है जो बिना जल (माया) के भी, विकसित हो रहा है (आनन्द उठा रहा है) ऐसा अनुपम केवल वही है, अन्य कोई नहीं। मेरा मन उस कमल का प्रेमी भ्रमर हो गया एवं उसके सम्पुट में ही निरन्तर निवास करने लगा अर्थात् उसी में लीन हो गया।

विशेष- रूपक तथा विभावना की संसृष्टि के साथ परिसंख्या का संकर भी हो गया है, इससे सूक्ष्म को मूर्तिमान कराने में सफलता मिल सकी है।

(67) अंतरि कवल प्रकासिया, ब्रह्म वास तहां होइ।
मन भंवरा तहां लुबधिया, जांणैना जन कोइ ॥7 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या-मेरे हृदय के भीतर कमल खिल रहा है अथवा मेरे शरीर के भीतर कमल विकसित हो रहा है। जिसमें ब्रह्म का निवास है। मेरा मन रूपी भ्रमर उस कमल रस के पान करने के लिए लालयित हो गया है, इस रहस्य को बिरले भक्त ही जान सकते हैं (इसका साक्षात्कार कुछ बिरलों को ही होता है।)

विशेष- योग पंथ में शीश में सहस्त्रदल कमल की स्थिति मानी गई है। योगपंथियों की मान्यता है कि यहीं ब्रह्म का निवास है, जहाँ से निरन्तर अमृत स्त्रवित होता है। इस कमल की स्थिति

हृदय में भी मानकर सन्तों ने वर्णन किया है। 'अन्तर' का अर्थ हृदय लिया जाय अथवा 'शरीर के भीतर' प्रत्येक दशा में कबीर का तात्पर्य सहस्त्रदल कमल से ही है।

(68) **सायर नाहीं सीप बिन, स्वांति बूंद भी नांहिं।**
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिषर गढ़ मांहिं ॥8 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीरदास कहते हैं जहाँ सागर, सीप एवं स्वाति नक्षत्र की बूँद-मोती की उत्पत्ति का एक भी उपादान नहीं है, ऐसे शून्य शिखर (सहस्त्रदल कमल के पास ही या उसके भीतर शून्य की स्थिति) पर प्रभु के दर्शनानन्द के मोती उत्पन्न होते हैं।

विशेष- यहाँ विरोधाभास अलंकार है।

(69) **घट मांहै औघट लह्या, ओघट मांहै घाट।**
कबि कबीर परचा भया, गुरु दिखाई बाट ॥9 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- कबीरदास कहते हैं कि सद्गुरु ने जो मार्ग दिखाया उसी के द्वारा अपने हृदय में उस ब्रह्म के दर्शन हो गये। गुरु द्वारा प्रशस्त यह पन्थ योग-पन्थ ही है। इसी के द्वारा जिसे (मूर्ख लोगों द्वारा) कुमार्ग (दुर्गम साधना) कहा जाता है, मैंने अपना लक्ष्य (घाट) प्राप्त कर लिया।

विशेष- रूपकातिशयोक्ति द्वारा इस शरीर या संसार को ही घाट कहा गया है। यही एक घाटत है तथा दूसरा घाट परमतत्व है, जो वस्तुतः अवघट है अर्थात् घाट है भी, नहीं भी है; इसी को विरोधाभास के द्वारा स्पष्ट किया गया है।

(70) **सूर समांणां चंद मैं, दहूँ किया घर एक।**
मनका च्यंता तब भया, कछू पूरुबला लेख ॥10 ॥

प्रसंग- प्रस्तुत साखी "परचा कौ अंग" से ली गई है।

व्याख्या- साधक कबीर कहते हैं कि पिंगल नाड़ी इड़ा में समा गई और दोनों ने सुषुम्ना नाड़ी को ही अपना घर-मार्ग बना लिया। इन दोनों के एकत्रित होकर सुषुम्ना वास से ही कुण्डलिनी ऊपर ब्रह्माण्ड-सहस्त्रदल-की ओर उन्मुख हुई और सहस्त्रदल तक पहुँच कर अमृत कर पान करने लगी। यह मेरा मनचाहा हुआ, जो किसी पूर्वजन्म के सुकृत्यों का ही फल है।

विशेष- योग पन्थ की मान्यतानुसार मेरूदण्ड के बायीं ओर इड़ा, दाहिनी ओर पिंगला और मध्य में सुषम्णा नाड़ी होती है। सुषुम्णा नाडी के मध्य में वज्रा, वज्रा के मध्य में चित्रिणी और चित्रिणी के मध्य में ब्रह्म नाड़ी होती है। इसी ब्रह्म नाड़ी से लेकर कुण्डलिनी सहस्त्रदल कमल तक पहुँचती है, किन्तु यह तभी सम्भव है जब इड़ा और पिंगला एक होकर सुषुम्णा में प्रवेश करें। यह कबीर की 'च्यंता' है।

जायसी

(71) **एक दिवस पून्यों तिथि आई, मानसरोदक चली अन्हाई।**
पद्मावति सब सखी बुलाईं, जनु फुलवारि सबै चलि आईं।
कोई चम्पा कोई कुन्द सहेली, कोई सुकेत करना रसबेली।
कोई सु गुलाल सुदरसन राती, कोई सो बकावरि बकचुन भाँती।

कोई सो मौलसरि पुहुपावती, कोई जाही जूही सेवती।
कोई सोनजरद को कोई केसर, कोई सिंगारहार नागेसर।
कोई कूजा सदबरग चँबेली, कोई कदम सुरस रसबेली।
चलीं सबै मालति संग, फूले कँवल कुमोद।
बेधि रहे गन गन्धरब, बास परीमल मोद॥

सन्दर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है।

कविवर जायसी प्रस्तुत अंश में पदमावती के स्थान, उसके सौन्दर्य एवं उसकी सहेलियों की स्थूल शोभा का वर्णन करते हैं।

प्रस्तुत अंश के दो प्रकार के अर्थ किये जा सकते हैं। एक फुलवाड़ी परक अर्थ और दूसरा सखियों के पक्ष में। डा. अग्रवाल के अनुसार ये इस प्रकार हैं-

व्याख्या- (क) **फुलवाड़ी परक अर्थ-** एक दिन कोई तिथि आई और पदमावती मानसरोवर के जल में नहाने चली। उसने सब सखियाँ बुलायीं वे सब खिली फुलवाड़ी की तरह आयीं। कोई सखी चम्पा, कोई कुन्द, कोई केतली, कोई करना, कोई रसबेल की भाँति थी। कोई लाल गुलाब (एक फूल) या सुदर्शन जैसी थी। कोई गुलाब कावली गुच्छों के समान विहँसती थी। कोई मौलसिरी की भाँति पुष्पों से लदी थी, कोई जाति और कोई यूथिका एवं सेवती के पुष्पों की भाँति थी। कोई सोनजरद, कोई केसर के समान थी, कोई हारसिंगार और नागकेशर जैसी थी। कोई पूजा के फूल, कोई हजारा गेंदा और कोई चमेली जैसी थी। कोई कदम्ब या सुन्दर रसबेल जैसी थी। वे सब मालती के साथ चलीं मानो कमल के साथ कोकाबेली फूली हो। उसके सुन्दर सौरभ के भौंरों के समूह वहाँ बिंध गये।

(ख) **सखियों के पक्ष में अर्थ-** एक दिवस कोई पर्व की तिथि आई और पद्मावती मानसरोदक में स्नान करने के लिए चल पड़ी। उसने अपनी समस्त सखियों को बुलाया और वे सब की सब इस प्रकार आ गयीं मानो कोई पुष्पवाटिका ही आ गई हो। पद्मावती की सखियों में कोई सखी शरीर की चप्पी, कोई वस्त्रों की कुन्दी करने वाली थी। कोई राज भवन में पानी का प्रबन्ध करती थी, कोई गुलाब मालती और कोई केवल उसके दर्शन में अनुरक्त थी, कोई वाक्य चुन-चुन कर वाक्यावली कहती और विहँसती थी। कोई सुन्दर बोल कहती हुई पुष्पावती जैसी हो जाती थी अर्थात् जब वह बोलती उसके मुँह से मानो फूल झड़ते थे। कोई जाकर उसके स्थान को देखती और सेवा करती थी। कोई केसरिया, जरदा या चावल का भोग लगाती थी। कोई हार से श्रृंगार करने में नागमती के समान थी। कोई सत्य के बल से चलने वाली चम्पा का तेल लगाकर हर्षित होती थी। कोई उसके सुन्दर चरणों के रस में पगी थी। वे सब सुन्दर सखियाँ संग में प्रसन्न होकर चलीं। पदमावती के मन में उससे मोद उत्पन्न हुआ। उन पद्मिनी स्त्रियों के शरीर से निकलने वाले भीने परिमल की सुगन्ध से गन्धर्वों के गण मोहित होकर ठिठक गये।

विशेष- (1) **अलंकार-** उत्प्रेक्षा तथा मालोपमा अलंकार।

(2) प्रस्तुत छंद में जायसी की नाम परिगणन शक्ति अभिव्यक्ति का परिचय मिलता है। प्रकृति के साथ कवि के नेत्रों के भावों का कितना सजीव साकार सम्पर्क है।

(3) डॉ. माताप्रसाद गुप्त ने तुलना में कहा है कि जायसी ने सिंहल की नारियों के संबंध में प्राय: कहा है कि उनके शरीर से विभिन्न प्रकार के पुष्पों की सुगन्ध निकलती थी। पद्मावती के शरीर से कमल की तथा शेष के शरीरों के अन्य प्रकार के पुष्पों की। यही भाव उन्होंने यहाँ पर प्रकाशित किया है। 'जेहि-जेहि बरन फूल फूलवारी। तेहि-तेहि बरन सुगन्ध सो नारी।'

(72) **खेलत मान सरोवर गईं, जाइ पाल पर ठाढ़ी भईं।**

देखि सरोवर हँसै कुलेली, पद्मावति सों कहहिं सहेली।
ए रानी! मन देखु विचारी, एहि नैहर रहना दिन चारी। -
जौ लगि अहै पिता कर राजू, खेलि लेहु जो खेलहु आजू।
पुनि सासुर हम गनवन काली किते हम, कित यह सरवर-पाली।
कित आवन पुनि अपने हाथा, कित मिलि के खेलन एक साथा।
सासु ननद बोलिह जिउ लेहीं, धरुन ससुर न निसरै देहीं।
पिउ पियार सिर ऊपर, पुनि सो करै दहुँ काह।
दहुँ सुख राखै की दुख, दहुँ कस जनम निबाह॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है। कवि जायसी ने सांकेतिक शैली में इस लोक और परलोक के संबंध में स्थूल रूप से प्रकाश डाला है। लड़की अपने पिता के घर रहती है, परन्तु विवाह के पश्चात् उसे पति गृह में जाना पड़ता है। इसी प्रकार यह लोग नैहर है और परलोक सासुर।

व्याख्या- पद्मावती और उसकी सब सखियाँ खेल करतीं हुईं मानसरोवर पर पहुँचीं और जाकर किनारे पर खड़ी हो गईं। वे मानसरोवर को देखकर हँसती, खेलती और पद्मावती से कहती थीं जरा सोचो तो, हम लोग अपने नैहर (पीहर) में थोड़े ही दिनों की मेहमान हैं। इसलिए जब तक पिता के शासन में हैं हमको चाहिए कि जो-जो खेल खेलना चाहे खेल लें फिर तो हमको सासुरे जाना ही पड़ेगा और तब फिर ऐसा अवसर हाथ नहीं आवेगा। वहाँ तो सास और ननद कटु बातें कहेंगी और श्वसुर भी घर से बाहर नहीं निकलने देंगे। यह भी नहीं कहा जा सकता है कि प्रिय स्वामी का व्यवहार किस प्रकार का होगा? वे हमको सुख से रखेंगे या दुःख से। किस प्रकार हमारा जीवन बीतेगा इसका भी कुछ पता नहीं।

(73) **मिलहिं रहसि सब चढ़हिं हिंडोरी, झूलि लेहिं सुख बारी मोरी।**
झूलि लेहु नैहर जब ताईं, फिरि नहि झूलन देइहि सांई।
पुनि सासुर लेइ राखिहिं तहाँ, नैहर चाह न पाउब जहाँ।
कित यह धूप, यह छाँहा, रहब सखी बिनु मन्दिर माहाँ।
गुन पूछहि औ लाइहि दोखू, कौन उतर पाउब तहँ मोखू।
सास ननद के भौंह सिकोरे, रहब संकोचि दुबौ कर जोरे।
कित यह रहसि जो आउब करना, ससरेइ अन्त जन्म देख भरना।
कित नैहर पुनि आउब, किन ससुरे यह खेल।
आपु आपु कहँ होइहि परब पंख जस डेलि।

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में महाकवि जायसी कहते हैं कि यह संसार रूपी नैहर तो क्षणिक है क्योंकि अन्त में तो मनुष्य को संसार रूपी नैहर को त्यागकर जाना है पुनः वापिस आने का कोई ठिकाना नहीं है।

व्याख्या- सखियाँ कहती हैं कि जब तक हम क्वारी हैं प्रेम से मिलती हैं और सब हिल-मिलकर झूला झूलती हैं। इन सब बातों का आनन्द केवल पिता के घर मिल सकता है। ससुराल में स्वामी इस प्रकार खेलने का अवसर नहीं प्रदान करेगा और हम सब को ससुराल में ऐसे सुरक्षित स्थान पर रहना पड़ेगा जहाँ से हमको नैहर के परिवार की कोई खबर नहीं मिल सकेगी। वहाँ हमको बाहर की धूप और छाया भी प्राप्त नहीं होगी तथा घर में अकेले, बिना सखियों एवं सहेलियों के साथ दिन काटने पड़ेंगे। वहाँ पर लोग गुण पूछेंगे और बात-बात में दोष लगायेंगे, वहाँ पर सोचना

होगा कि कौन-सा उत्तर दिया जाय, उस समय उचित उत्तर सोचना बड़ा कठिन है। पद्मावती कहती है कि स्वामी मेरे गुणों को पूछेगा और मुझ पर दोषारोपण होगा। मैं वहाँ पर किस उत्तर से मोक्ष प्राप्त करूँगी। सास और ननद के कुपित हो जाने पर हमको संकोच से करबद्ध प्रार्थना करते हुए उनके सामने से गुजरना पड़ेगा। यहाँ के से खेल और मनोरंजन का अवसर अब आगे प्राप्त नहीं हो सकेगा और अन्त समय तक ससुराल की कठोर यातनाएँ सहन करनी पड़ेंगी। हम लोगों का पतिगृह (ससुराल) का रहना उसी प्रकार सिद्ध होगा जिस प्रकार बहेलिये की डलिया में कसने पर पक्षी का हाल होता है।

विशेष-(1) **अलंकार-** उदाहरण, विषम, उपमा और समासोक्ति है।

छन्द- चौपाई तथा दोहा। भाषा-अवधी।

(2) इस पद में पीहर और ससुराल के परीक्षा अर्थ अभिप्रेत हैं।

प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने पद्मावती के अनन्त सौन्दर्य का वर्णन किया है। सरोवर एक साधक है। उसका आराध्य उसके निकट आ गया है इसलिए वह अत्यधिक उल्लसित है।

(3) प्रस्तुत पंक्तियों में कवि ने पद्मावती के सौन्दर्य का अंकन अलंकारिक शैली में किया है। उसमें रहस्यात्मकता प्रतीत होती है। रचना में अन्यत्र भी जायसी ने शैली का प्रयोग किया है।

(74) सरवरतीर पदमिनी आई, खोंपा छोरि केस मुंकलाई।
ससि-मुख, अंग मलयगिरि बासा, नागिन झांपि लीन्ह चहुँ पासा।
ओनई घटा परी जग छाहां, ससि कै सरन लीन्ह जनु-राहां।
छपि गै विनहि भानु कै दसा, लेइ निसि नखत चांद परगसा।
भूलि चकोर दीठि मुख लावा, मेघ घाटा महं चंद देखावा।
दसन दामिनी, कोकिल भाखी, भौंहि धनुल गगन लेई राखी।
नैन-खंजन दुई केलि करेही, कुच-नारंग मधुकर रस लेही।
सरवर रूप विमोहा, हिये हिलोरहिं लेइ।
पाँव छ्वै मकु पावौं एहि मिस लहरहिं देइ॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में जायसी ने पद्मावती के मुक्त केशमय सौन्दर्य का भावपूर्ण चित्रण किया है।

व्याख्या- वे पदमिनी बालाएं सरोवर के तीर पर आयीं। उन्होंने केशों का बँधा हुआ जुड़ा खोलकर बालों को विधुरा दिया। रानी पद्मावती का मुख चन्द्र के समान और देहयष्टि मलेयगिरि के समान थी। केश रूपी नागों ने मानो सुगन्धि के लिए उसके अंग को ढक लिया था। केशों की श्यामता से दिन में ही सूर्य का प्रकाश छिप गया और रात में चन्द्रमा नक्षत्रों को लेकर प्रकट हो गया। पद्मावती के दाँत बिजली की भाँति चमकते थे और बोलना कोयल की भाँति था। आकाश के इन्द्रधनुष को लेकर मानो उसकी भौंहें बनायी गयी थीं। उसके रूप से मोहित हुआ सरोवर हृदय में हिलोर लेने लगा। मैं कदाचित् उसके पैर छू सकूँ, इस इच्छा से वह अपनी लहरें उसकी ओर बढ़ाने लगा।

विशेष-(1) 'शशि.....रानी' में सरोपा-गूढ़ व्यंग्य प्रयोजनवती लक्षणा है। शशि का आरोप नायिका के मुख पर और मलयगिरि का आरोप अंग पर किया गया है। इस आरोप का प्रयोजन है मुख के अतुलनीय सौन्दर्य और अंग की अप्रतिम सुरभि की व्यंजना करना। इस प्रकार के लाक्षणिक प्रयोगों से उक्ति में एक विशेष चमत्कार आ गया है।

(2) 'नागिन्ह.....अरधानी' में रूपकातिशयोक्ति से हेतुत्प्रेक्षा व्यंग्य है। इसलिए यहाँ पर अलंकार से अलंकार ध्वनि की योजना की गयी है।

(3) 'छवि.....दसा' में विशेषोक्ति अलंकार है। अखण्ड कारण के होते हुए भी कार्य न होने के वर्णन को विशेषोक्ति अलंकार कहते हैं। यहाँ पर दिन रूपी अखण्ड कारण के होते हुए भी सूर्य का छिप जाना विशेषोक्ति है।

(75) **धरी तीर सब कंचुकि सारी, सरवर महं पैठीं सब बारी।**
पाइ नीर जानौं सब बेली, हुलसहिं करहिं काम कै केली।
करिल केस बिसहर बिस-भरे, लहरै लेहिं कवंल मुख धरे।
नवल बसंत संवारी करी, होइ प्रगट जानहु रस-भरी।
उठी कौंप जस दारिवँ दाखा, भई उनमें प्रेम के साखा।
सरवर नहिं समाइ संसारा, चांद नहाइ पैठ लेइ तारा।
धनि सो नीर ससि तरई ऊई, अब कित दीठ कमल औ कूई।
चकई बिछुरि पुकारै, कहां मिलौं, हौ नाहं।
एक चांद निसि सरग महं, दिन दूसरे जल माहं॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में जायसी ने पदमावती और उसकी सखियों के सरोवर स्नान का चित्र खींचा है।

व्याख्या- सब सखियों ने अपनी कंचुकियाँ और साड़ियाँ उतारकर सरोवर के किनारे रख दीं और स्नान करने के लिए तालाब में प्रविष्ट हुईं। जल को पाकर वे सब बेल रूपी सखियाँ प्रफुल्लित हो गयीं और आनन्द से खेल करने लगीं। उनके काले बाल जहरीले सर्प के समान उनके कमल रूपी मुख पर बैठे हुए अथवा मुख से कमल रखे हुए लहरें ले रहे थे, वे सब युवतियाँ बसंत की नई कली के समान रस से भरी हुई थीं और ऐसा मालूम होता था मानो दाड़िम और दाख के पौधों पर नवीन कोपलें निकलीं हों और प्रेम रूपी शाखा झुक गई हो। चाँद रूपी पदमावती सरोवर में स्नान कर रही थी और तारा रूपी सखियाँ उसमें प्रविष्ट हो रही थीं। वह जल धन्य है जिसमें शशि रूपी पदमावती और तारे रूपी सखियाँ उदित हों। (धन्य है वह जल जिसमें चन्द्रमा और तारे उदित हुए। अब उसमें कमल और कुमुदनियों के दर्शन कहाँ?) चकवी बिछुड़कर पुकारने लगी-'हे स्वामी अब तुम कैसे मिलोगे? आकाश का एक चाँद रात में वियोग कराता था, अब दूसरा दिन में वियोग कराने के लिए जल में घुस आया है।'

विशेष- (1) 'करिल केस बिसहर.....मुख धरे'-में बिधुरे हुए केश जल पर लहरों के साथ लहरा रहे थे। बालाओं के मुख कमल के समान थे। वे केश पानी में लहराते हुए भी वहाँ नहीं जा रहे थे; ज्ञात होता है उन्होंने मुख कमलों को पकड़ रखा था। कमल सरोवर में प्रायः सर्प रहते भी हैं।

(2) अलंकार-'नवल बंसत.....रसभरी' में रूपकातिशयोक्ति, 'उठे कोंप.....प्रेम के साथ' में उत्प्रेक्षा मूलक सौन्दर्य, 'सरावर नहिं समाय संसारा में अल्प अलंकार।' 'चाँद नहाइ.....तारा' में रूपकातिशयोक्ति, 'धनि सो नीर ससि तरई उई' में पाँचवीं विभावना अलंकार। यह वहाँ होता है जहाँ विरुद्ध कारण से कार्य की उत्पत्ति का वर्णन है। 'अबकल.....कँवल-ओकुई' में काक्वाक्षित गुणीभूत व्यंग्य है।

(3) 'चकई बिछुरि.....जल माँह' में भ्रांतिमान। इस अलंकार का आशय यह है कि सादृश्य के कारण एक वस्तु को दूसरी वस्तु मान लेना भ्रांतिमान है।

(4) 'दिन.....दोसर जल माह' में विभावना अलंकार है। इस अलंकार का आशय यह है कि कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति का वर्णन विभावना अलंकार है।

(76) **लागीं केलि करै मँझ नीरा, हंस कृजाय बैठ ओहि तीरा।**
पद्मावति कौतुत कहँ राखी, तुम ससि होहुँ तराइन साखी।
बाद मेलि कै खेल पसारा, हार देई जो खेलत हारा।
सँवरिहि साँवरि, गोरिहिं गोरी, आपनि-आपनि लीन्ह सो जोरी।
बूझि खेल खेलहु एक साथा, हार न होइ पराएँ हाथा।
आजुहि खेल बहुरि कित होई, खेल गउँ कत खेलै कोई।
धनि सो खेल खेल सह पेमा, रउताई और कूसल खेमा।
मुहमद बाजी पैम कै, ज्यों भावै त्यों खेल।
तिल कूलहि के संग ज्यों, होइ फुलायल तेल॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में कवि ने पदमावती और उसकी सखियों की जल-क्रीड़ा का वर्णन किया है।

व्याख्या- वे सब जल के बीच में केलि करने लगीं। सरोवर का केलि निपुण हंस लजाकर किनारे बैठ गया। सखियों ने पद्मावती को कौतुक देखने वाली बनाकर एक ओर बैठा दिया और कहा-हे सखि, तुम शशि रूप इन तारों की साक्षी होकर रहो। तब बाजी लगाकर उन्होंने खेल आरम्भ किया-'जो खेल में हारेगा उसे अपना हार देना पड़ेगा।' खेल को समझ लो और सब एक साथ खेलो। अपना हार पराये हाथ में न जाने पाये। (या दूसरों के हाथों अपनी हार न हो) मुहम्मद-प्रेम के जल में जैसा मन भावे वैसा खेलो। तिल और फूलों के साथ बसाने से ही तेल बनता है, किसी की वास और किसी के स्नेह मिलने से प्रेम में सुगंधित आती है।

विशेष- (1) 'हंस.....तीरा' में सिद्ध विषया हेतुत्प्रेक्षा अलंकार है।

(2) 'हारू.....हाथा' में 'हारू' में शब्द शक्ति उद्भव वस्तु ध्वनि है।

(3) 'मुहम्मद.....तेल' में उदाहरण अलंकार।

(77) **सखी एक तेइ खेल न जाना, भै अचेत मनिहार गँवाना।**
कँवल डाल गहि भै बेकरारा, कासों पुकारौं आपन हारा।
कित खेलै आवउँ एहि साथा, हीर गँवाइ चलउँ लेइ हाथा।
घर पैठत् पूँछव यह हारू, कौन उतर पाउब पैसारू।
नैन सीप आँसू तस भरे, जानो मोति गिरहिं सब ढरे।
सखिन कहा भोरी कोकिला, कौन पानि जेहि पोन न मिला।
हार गँवाइ सो ऐसे रोवा, हेरि हेराइ लेह जौं खोवा॥
लागी सब मिल हेरै, बूड़ि बूड़ि एक साथ।
कोई उठी मोती लेइ, काहू घोंघा हाथ॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'पद्मावत' के मानसरोदक खण्ड से अवतरित है। मानसरोदक खण्ड के प्रस्तुत प्रसंग में सखियों के खेल में सखी की हार के रूप में कवि जीवन की हार का वर्णन कर रहा है। श्री गुप्त जी के शब्दों में इस छन्द की पंक्तियों में कवि ने सांकेतिक शैली में एक तो यह कहना चाहा है कि मनुष्य को आदि में दिव्य अनुभूति थी किन्तु अपने अज्ञान के कारण उसने उस अनुभूति को खो दिया। साधकों ने उस अनुभूति को खोज निकालने के अनेक

प्रयत्न किये हैं, किन्तु जिनसे मानवता को अनेक मूल्यवान और मूल्यहीन तत्वों की प्राप्ति हुई है किन्तु किसी सप्रयास साधना से वह दिव्य अनुभूति नहीं प्राप्त हुई है। दूसरे यह कि जगत में युक्तियों से जो तात्विक उपलब्धि सम्भव नहीं हुई है वह उस रूप-स्त्रोत का आश्रय लेने पर अनायास ही सम्भव हो जाती है।

व्याख्या- सखियों ने होड़ा-होड़ी करके खेल प्रारम्भ किया। उनमें से एक सखी खेलना नहीं जानती, अचेत हो जाने के कारण उसका मणि हार खो गया। वह कँवल की डण्डी पकड़कर विह्वल हो उठी। वह कहने लगी कि मैं अपने हार के विषय में किससे कहूँ। मैं यहाँ खेलने के लिए आयी जो हार खोकर खाली हाथ हो गयी। घर जाते ही घर वाले हार के संबंध में पूछेंगे तब उनको क्या उत्तर दूँगी। से नेत्रों के शीप में मोती भर गये और गिरने लगे। सखियों ने उसको समझाकर कहा कि तू बावरी न बन। इस संसार में ऐसा कौन है, जिसको हार न मिला हो। लेकर हार गँवाकर इसी प्रकार रोना पड़ता है। जो हार खो गया है उसे सभी मिलकर खोज लें। सभी सखियाँ एक साथ डुबकी लगाकर हार खोजने लगीं। किसी के हाथ में मोती आया तो किसी के हाथ में घोंघा ही।

विशेष-(1) कवि सांसारिक खेल के रूप में जीवन के खेल का संकेत कर रहा है। जीवन के खेल में कोई तो विजयी होकर मोती प्राप्त करता है और किसी के हाथ में पराजित होकर घोंघा ही आता है इसको स्पष्ट करते हुए श्री राजनाथ शर्मा ने कहा कि इस छन्द में जायसी ने प्रेम मार्ग की साधना का अप्रत्यक्ष रूप से उल्लेख किया है। मान सरोवर हृदय का प्रतीक है और सारी सखियाँ जीवात्माओं अर्थात् हृदय का खेल बड़ी कठिन योगिक साधना है। इसे चतुर खिलाड़ी ही भली प्रकार खेल सकता है। प्रेम की इस साधना में जरा-सा भी गाफिल होते ही साधक अपना सब कुछ खो बैठता है परन्तु असफल हो जाने से हताश नहीं हो जाना चाहिए। बारम्बार प्रयत्न करना चाहिए। जिसकी जैसी साधना होती है उसको फल भी वैसा ही मिलता है। किसी को ज्ञान प्राप्त होता है तथा कोई तुच्छ साधना में चूक हो जाने से परलोक में ईश्वर उसका लेखा-जोखा माँगता है। इसलिए प्रेम मार्ग पर बड़ा सतर्क और तन्मय होकर चलना चाहिए। इस साधना द्वारा ही ईश्वर की प्राप्ति सम्भव है।

(2) **अलंकार-** नैन में सीप का आरोप होने से रूपक, आँसू में मोती की कल्पना होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है।

(3) कथा प्रसंग की दृष्टि से वहाँ कुछ दोष है। पहले बाजी में हार के हारने की बात थी, अब हार तालाब में गिर कर खो गया। वास्तव में परोक्ष अर्थ पर दृष्टि रखने से कथा प्रसंग भूल-सा गया प्रतीत होता है।

(4) शूफी इमाम गजाली ने ईश्वर रूपी मोती की दुर्लभता को एक स्थल पर स्पष्ट किया है-"अल्लाह, सत्तर हजार पर्दों के भीतर हैं जिनमें से कुछ प्रकाशमय और कुछ अन्धकारमय हैं और यदि वह उन आवरणों को हटा ले तो जिस किसी की दृष्टि उस पर पड़ेगी, वह उसके प्रकाश से दग्ध हो जायेगा। हाल आनन्द, उन्माद एवं क्रीड़ा उसके स्वरूप दर्शन पाने की एक दिशा है। जायसी ने यहाँ सूफी मत की इस विचारधारा का दिग्दर्शन कराया है जिसमें काव्य अलंकारों का मधुर समावेश है।"

(5) डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत ने लिखा है कि "कौन पानि जेहि पौनु न मिला" यहाँ पर काकु वैशिष्ट मूलक वस्तु व्यंग्य है कि ऐसा संसार में कोई नहीं है कि जिस पर विपत्ति न पड़ी हो। "कोई उठी मोति लें घौंघा काहू हाथ।"

यहाँ पर स्वत: सम्भावी वस्तु से वस्तु व्यंग्य है कि इस संसार में किसी को सौभाग्य और किसी को दुर्भाग्य का सामना करना पड़ता है।

(78) **नागमती चितउर-पथ हेरा, पिउ जो गये पुनि कीन्ह न फेरा।**
नागर काहु नारि बस परा, तेइ मोर पिउ मोनौं हरा।
सुआ काल होइ लेइगा दीऊ, पिउ नहिं जात, जात बरु जीऊ।
भ्रयउ नरायन बावन करा, राज करत राजा बलि छरा।
करन पास लीन्हेउ कै छंदू, विप्र रूप धरि झिलिमिल इंदू।
मानत भेग गोपिचन्द भोगी, लेइ अपसवा जलंधर जोगी।
वै कृस्नहि भा गरुड़ आलेपी, कठिन विछोह, जियहिं किमि गोपी?
सारस जोरी कौन हरि, मारि विधाया लीन्ह?
झुरि-झुरि पींजर हौं भई, बिरह-काल मोहि दीन्ह॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'नागमती वियोग खण्ड' से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में जायसी ने नागमती की वियोग कालीन चिन्ता का वर्णन किया है।

व्याख्या- नागमती चित्तौड़ पति का मार्ग देखती रही परन्तु पति ऐसे गये कि फिर लौटे ही नहीं। ऐसा लगता है कि किसी नागरी नारी के फेर में पड़ गये हैं। उसने मोहित करके उनका चित्त मेरी ओर से हर लिया। भाव यह है कि उस नागरी ने मेरी ओर से उसे मोह (ममता) रहित करके उसका चित्त हर लिया है। सुआ (हीरामणि) काल होकर मेरे प्रिय को ले गया। मेरे प्रिय को वह मुझसे न छीनता भले ही मेरे प्राण हर लेता। वह सुग्गा वामन रूप में नारायण बनकर आया और राज करते हुए बलि को छल ले गया। दूसरे शब्दों में नारायण वामन की कला के हुए और उन्होंने राज्य करते हुए बलि को छल लिया था, परन्तु कर्ण ने (परशुराम से) बाण (ब्रह्मास्त्र) (बाह्मण होने का) छद्म करके लिया, परन्तु महाभारत के युद्ध में उसी के साथ छल हुआ। जब इन्द्र (जैसा छलिया) उसको मिला और भिक्षुक बनकर अर्जुन के लिए उसने कवच और कुण्डल माँग लिए। भोगी गोपीचन्द्र भोग में फँसे हुए थे। जोशी जालंधर नाथ उन्हें लेकर चले गये। उन्होंने उसे भोगी से योगी बना दिया। कृष्ण को लेकर अक्रूर आलुप्त हो गया यानी मथुरा चला गया। आशय यह है कि उस कठिन बिछोह में कृष्ण की प्रेमिकाएँ वे गोपियाँ कैसे जीवित रहतीं? वे कृष्ण के वियोगाग्नि में जल मरीं। सारस की जोड़ी में से एक को वह क्यों हर ले गया? हरना था तो खगी को मार क्यों नहीं गया। विरह की ऐसी आग लगी कि बाला सूखकर पंजर हो गयी। विरह रूपी काल मेरे भाग में पड़ा है।

विशेष- (1) **अलंकार-** "सारस-लागी अग्नि" में सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा।

(2) इस अवतरण में प्रवास विरह के अन्तर्गत ईर्ष्या हेतुक विरह का चित्रण किया गया है।

(79) **पाट महादेइ! हिये न हारू, समुझि जीव, चितु चेतु सँभारू।**
भौंर कँवल सँग होइ मेरावा, सँवरि नेह मालित पहँ आवा।
पपिहैं स्वाती सौं जस प्रीती, टेकु पिपास, बाँध मन थीती।
धरतिहि जैस गगन सौं नेहा, पलट आव वरषा ऋतु मेहा।
पुनि बसन्त ऋतु आव नवेली, सो रस, सो मधुकर सो बेली।
जिनि अस जीव कर सित् बारी, यह तरबर पुनि उठिहि सँवारी।
दिन दस बिनु जल सूखि निधंसा, पुनि सोइ सरबर, सोई हंसा।

मिलहिं जो बिछुरे साजन, अंकम भेंटि गहंत।
तपनि मृगसिरा जै सहैं, ते अद्रा पुलुहंत।

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'नागमती वियोग खण्ड' से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में सखियाँ विरहिणी नागमती को समझा रही हैं।

व्याख्या- वे कहती हैं कि 'पट्ट महादेवी हृदय में हारो नहीं। जी में समझी और चित्त में चैतन्य की रक्षा करो। भ्रमर कमलिनी के साथ होने पर भी पराया नहीं हो जाता है, मालती के पास उसका स्नेह स्मरण कर वह पुनः आता है। प्रियतम रूपी स्वाति में तुम्हारी जैसी दृढ़ प्रीति थी उससे न्याय को रोके रहो और मन में टेक स्थिति बाँधे रहो। जैसे पृथ्वी को आकाश से प्रेम होता है और आकाश उलट कर वर्षा ऋतु में जल बनकर उतर आता है उसी प्रकार तुम्हारा पति भी फिर से लौटेगा। यदि तुम्हारी टेक उसमें बनी रही तो मिलन अवश्य ही होगा। नवल बसंत ऋतु पुनः आवेगी और वही रस, वही मधुकर और वही बेल पुनः होंगे। हे रमणी तुम अपना चित्त ऐसा करो। जले हुए वृक्ष भी फिर सम्हल कर (पल्लवित होकर) उठ जाते हैं। दस दिन तक जल सूखा भी रहा तो क्या हानि है? पुनः सरोवर और वहीं हंस होगा।

जो साजन बिछड़ते हैं, वे फिर मिलते हैं और प्रफुल्लित भेंट और आलिंगन करते हैं, जो मृगशिरा की तपन सहते हैं, वे आद्रा से फिर हरे हो जाते हैं।

विशेष- (1) **अलंकार-** 'भौर = आवा' में सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा यह हरिवर में संवृत्ति वक्रता और रूपकातिशयोक्ति 'दन-हंसा' में सारूप्य निबन्धना अप्रस्तुत प्रशंसा। तपनि-पुलहंत में प्रतिवस्तुपमा।

(2) प्रस्तुत अवतरण में प्रोषितपतिका नायिका के प्रति सखियों का आश्वासन है।

(3) तपनि मृगशिरा-आर्द्रा (आषाढ़ कृष्ण), पुनर्वसु (आषाढ़ शुक्ल), पुष्य (श्रावण कृष्ण), श्लेषा (श्रावण शुक्ल), मघा (भाद्रपद कृष्ण), पूर्वाफाल्गुनी (भाद्रपद शुक्ल), उत्तरा फाल्गुनी (आश्विन कृष्ण, हस्त (आश्विन शुक्ल), चित्रा (आश्विन शुक्ल का अन्त या कार्तिक कृष्ण) स्वाति (कार्तिक शुक्ल), ये दस वृष्टि के नक्षत्र हैं। प्रत्येक 15 दिन तपता है कार्तिक में स्वाति आता है। पहला नक्षत्र आर्द्रा लगभग 22-23 जून को कहते हैं जिस समय उत्तरी भारत में वृष्टि का आरंभ होता है। आर्द्रा से पहले 15 दिन तक मृगशिरा नक्षत्र ज्येष्ठ शुक्ल में खूब तपता है। मृगदाह के बाद आर्द्रा आता है। उसी की ओर जायसी का संकेत है। डॉ. वासुदेव शरण।

(80) **लाग कुआर, नीर जग घटा, अबहूँ आउ, कंत? तन जटा।**
तोहि देखे, पिउ! पलुहै कया, उतरा चीतु, बहुति करु मया।
चित्रा मित्र मीन कर आवा, पपिहा पीउ पुकारत पावा।
उआ अगस्त, दृष्टि-घन-गाजा, तुरय पलानि चढ़ें रन राजा।
स्वाति-बूँद चातक मुख परे, समुद्र सीप मोती सब भरे।
सरवर सँवरि हंस चलि आए, सारस कुरलहिं, खंजन देखाए।
भा परगास, कांस वन फूले, कंत न फिरे विदेशहिं भूले।
बिरह-हस्ति तन सालै, घाय करै चित्त चूर।
बेगि आइ, पिउ! बाजहु, गाजहु होइ सदूर॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'नागमती वियोग खण्ड' से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में भादों मास की मूसलाधार वर्षा और काली डरावनी रातों में नागमती की त्रस्त मनोवृत्ति

का चित्र प्रस्तुत करने के बाद जायसी, वर्षा से रहित क्वार के महीने में उसकी मनोदशा का चित्रण प्रस्तुत करता है।

व्याख्या- क्वार मास प्रारंभ हो गया। वर्षा का जल चारों ओर से कम होने लगा है। इस दृश्य को देखकर नागमती अपने स्वामी की याद कर रही है। वह कहती है कि हे स्वामी मेरा शरीर अत्यन्त शिथिल पड़ गया है। वह आप ही के दर्शन से पनप सकता है। तुमने मुझे अपने चित्त से उतार दिया था। अब मेरे ऊपर पुन: दया करो। अगस्त्य के उदय होने पर हस्त नक्षत्र का मेघ गरजने लगा (या मेघ रूपी हाथी गरजने लगे)। राजाओं ने घोड़ों पर पलान रखकर युद्ध की तैयारी की। चित्रा का मित्र चन्द्रमा मीन राशि में आ गया। कोयल ने 'पिउ पिउ' पुकारते हुए मानो अपना पति पा लिया है तभी तो वह चुप हो गई है। हे मेरे चित्त के मित्र, तुम भी घर आवो। स्वामि बूँदें चातक के मुख में पड़ गई हैं। समुद्र में सीप मोतियों से भर गई हैं। सरोवरों पर हंस भी आ गये हैं। सारस पक्षी भी क्रीड़ा करने लगे। खंजन पक्षी भी क्रीड़ा करने लगे। चारों ओर प्रकाश भी होने लगा। वन में कांस भी फूलने लगी, पर हाय ! मेरे स्वामी अब नहीं लौटे और परदेश में ही भूल गये। विरह रूपी हाथी शरीर को कष्ट दे रहा है। वह चित्त पर चोट करके उसे घायल किए दे रहा है। हे प्रिय ! तुम शीघ्र ही आकर विरह रूपी हाथी के लिए सिंह बनकर गरजो।

विशेष-

(1) *प्रस्तुत अवतरण में चिन्ता और स्मृति नामक विरह दशाएँ व्यंजित की हैं।*

(2) *फारसी काव्य-शास्त्र के अनुसार यहाँ 'बेसवर' नामक अवस्था है।*

(3) *डॉ. कैलाशचन्द्र अग्रवाल ने लिखा है कि इस छन्द में जायसी ने अपने ज्योतिष ज्ञान का अच्छा परिचय दिया है। उन्होंने अपने ज्ञान-प्रदर्शन के चक्कर में छन्द का सारा भाव ही उतक्षा दिया है। जहाँ तक नक्षत्रों के उल्लेख का प्रश्न है, इस छन्द में भादों, क्वार और कार्तिक तीनों ही महीनों में नक्षत्रों को गड्डमगड्ड कर दिया गया है। चित्रा, हस्ति और स्वाति तीनों नक्षत्र क्वार के ही महीने में बताये गये हैं, जबकि एक मास में प्राय: दो ही नक्षत्रों का प्राधान्य होता है।*

(4) *प्रस्तुत पंक्तियों में शरद् ऋतु के प्रारम्भ और उसके प्रतीकों का अत्यन्त मनोहारी वर्णन किया गया है।*

(5) *अलंकार-'विरह.....सदूर' में रूपक।*

(6) *'उअे अगस्त' हस्त नक्षत्र में अगस्त्य तारा दिखाई पड़ता है। हस्त या हथिया में चील के इतना बादल ही दिखाई पड़े तो खूब गरजता बरसता है।*

(81) **पूस जाड़ थर थर तन काँपा, सुरुजु जाइ लंका दिसि चाँपा॥**
बिरह बाढ़ दारुन भा सीऊ, कंपि कंपि मरौं, लेइ हरि जीऊ।
कंत कहाँ लागौं ओहि हियरे, पंथ अपार, सूझ नहिं नियरे।
सौंर सपेती आवै, जूड़ी, जानहु सेज हिवंचल बूड़ी।
चकई निसि बिछुरै, दिन मिला, हौं दिन राति बिरत कोकिला।
रैनि अकेलि साथ नहिं सखी, कैसे जियै बिछोही पखी।
बिरह सचान भएउ तन जाड़ा, जियत खाइ और मुए न जाँड़ा।
रकत ढुरा माँसू गरा, हाड़ भएउ संख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'नागमती वियोग खण्ड' से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में पूस के महीने में होने वाली नागमती की विरहानुभूति की व्यंजना की गई है।

व्याख्या- पौष में जाड़े से शरीर थर-थर काँप रहा है और सूर्य (स्त्री भी) शीत लगने से (कष्ट पाकर) लंका की दिशा (दक्षिण) में (आग) ताप रहा है। विरह को बाढ़ से वह शीत और भी दारूण हो गया है। (जिसके परिणामस्वरूप) मैं काँप-काँपकर मर रही हूँ और वे (दोनों-शीत और विरह) मेरे जीव को हर ले रहे हैं और स्वामी न जाने कहाँ हैं, यदि मेरे वे पास होते तो उनके गले से चिपटकर शीत से मुक्ति पा लेती। उन तक पहुँचने का मार्ग भी अपार है, मुझे तो निकट की भी वस्तु दिखाई नहीं पड़ती। शैय्या पर बिछी सफेद चादर पर पैर रखते ही मुझे जूड़ी सी चढ़ जाती है। ऐसा लगता है मानो यह शैय्या बर्फ में डूबी हुई हो। आशय यह है कि शैय्या बर्फ के समान ठण्डी लगती है। चकवी रात को बिछुड़कर दिन में मिल जाती है परन्तु मैं रात-दिन विरह में कोयल बनी पुकार रही हूँ। रात में अकेली रह जाती हूँ, सखी भी साथ में नहीं होती। मैं कैसे जिऊँ? जब मेरी जोड़ी का पक्षी बिछुड़ा हुआ है। इस भयानक शीतकाल में विरह मुझे उसी प्रकार सता रहा है जैसे बाज (सजान चिड़िया को सताता है।) यह शीत रूपी बाज जीते जी तो मुझे खा ही रहा है। लगता है मरने पर भी नहीं छोड़ेगा। कहने का आशय यह है कि बाज जीवित चिड़िया पर झपट्टे मार-मार कर उसे व्याकुल कर देता है और मर जाने पर भी उसे छोड़ता नहीं बल्कि उसके शरीर को नोंच-नोंचकर खाता है। उसी प्रकार शीत भी पद्मावती को जीते जी तो व्याकुल कर रहा है, लगता है मर जाने पर भी उसका पीछा नहीं छोड़ेगा अर्थात् उसके शरीर को भस्म कर उसके अस्तित्व को भी मिटा देगा।

विरह में उसका रक्त आँसू बनकर ढल गया; माँस गल गया, हड्डियाँ सूखकर शंख हो गई। बाला सारस की जोड़ी की भाँति रहती हुई मर गई। हे प्रिय, अब आकर उसके पंख समेट लो।

विशेष-

(1) **अलंकार-** *चौथी- अर्धाली में उत्प्रेक्षा, अन्तिम में रूपक दोहे में अलंकारगत सादृश्य-विधान का चमत्कार।*

(2) *शीत-ऋतु में सूर्य दक्षिणायन हो जाता है। दक्षिण दिशा में ठण्ड कम पड़ती है। कवि का अभिप्राय यह है कि शीत के भय के कारण ही पूर्व दक्षिण दिशा में भाग गया है क्योंकि वहाँ शीत उसका पीछा नहीं कर सकेगा।*

(82)

लागेउ माघ, परै अब पाला, बिरहा काल भएउ जड़काला।
पहल पहल तन रूई झाँपै, हहरि हहरि अधिकौ हिय काँपै।
आइ सूर होइ तपु रे नाहा, तोहि बिनु जाड़ न छूटे माहा।
एहि माह उपजै रसमूलू, तू सो भौंर, मोर जोबन फूलू।
नैन चुवहिं जस महवट नीरू, तोहि बिनु अंग लाग सर चीरू।
टप टप बूँद परहिं जस ओला, बिरह पवन होइ मारै झोला।
केहिक सिंगर को पहिरु पटोरा, गीउ न हार रही होइ डोरा।
तुम बिनु काँपै धनि हिया, तन तिनउर भा डोल।
तेहि पर विरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'नागमती वियोग खण्ड' से अवतरित है। प्रस्तुत पंक्तियों में जायसी ने माघ में अनुभव होने वाली विरह-वेदना का वर्णन किया है।

व्याख्या- माघ का महीना लग गया है और पाला पड़ने लगा है। जाड़े के समय में विरह काल सा प्रतीत होता है। शरीर को जितना रुई के पहलों से ढका जाता है हृदय उतना ही काँपता है। हे स्वामी! तुम आओ और सूर्य बनकर तपो; बिना तुम्हारे इस माघ मास के जाड़े से मुक्ति नहीं मिल सकती अर्थात् तुम आकर अपने उष्ण आलिंगन पाश में बाँधकर मेरी शीत बाधा दूर करो।

बिना तुम्हारे शरीर से लगे माघ का जाड़ा छूट ही नहीं सकता। इसी मास में उस रास का मूल (कामदेव) उत्पन्न होता है जो बसन्त में वनस्पतियों पर फल रूप से प्रकट होता है। मेरे यौवन रूपी पुष्प का रस लेने वाले तुम भौंरे हो। मेरे नेत्र इस प्रकार चू रहे हैं जैसे माघ की वर्षा का जल, उस जल से मेरे चीर सदृश शर (सरकण्डों) में आग लग जाती हैं। भाव यह है कि उससे शरीर जलता है और वस्त्र बाण से लगते हैं। बूँदें टूटकर ओले जैसे गिराती हैं। विरह पवन बनकर उन ओलों का झोला मारता है। माघ के महीनों में वर्षा का जल एक तो वैसे ही ठण्डा होता है दूसरे शीत-पवन उसे और भी ठण्डा कर देता है। इस शीत वायु से प्रेरित जल जब व्यक्ति के शरीर के अंग पर पड़ता है, उसे ही संज्ञा शून्य बना देता है। किसके लिए श्रृंगार करूँ? कौन पटोरे पहने? ग्रीवा में हार नहीं है, क्योंकि स्त्री स्वतः क्षीण होकर तागा हो गई है।

हे कन्त, तुम्हारे बिना बाला सूखकर हल्की पड़ गई है। उसका शरीर तिनके की तरह इधर-उधर डोलता है। उस पर भी विरह जलाकर उसकी राख उड़ा देना चाहता है।

विशेष-

(1) **अलंकार-** *'पहल-पहल', 'हहरि-हहरि' और 'टप-टप' पदों में 'वीप्सा' का सुन्दर प्रयोग हुआ है।*

(2) *प्रस्तुत अवतरण में ऋतु को ही विरहोद्दीपन के रूप में चित्रित किया है।*

(3) *यहाँ पर प्रकट किया है कि जाड़ों में जितने अधिक कपड़े पहने जाते हैं उतना ही जाड़ा अधिक लगता है। जायसी ने इसी भाव को व्यक्त किया है।*

(4) *'झोला' जाड़ों में चलने वाली अत्यन्त ठण्डी हवा को कहते हैं, जो अंगों को सुन्न बना देती है। इसके झोंके अनाज के पौधों को सुखा डालते हैं।*

(83)

चैत वसंता होइ धमारी, मोहिं लेखे संसार उजारी।
पचम बिरह पंच सर मारै, रकम रोइ सगरौं बन ढारै।
बूड़ि उठे सब तरिवर-पाता, भीजि मजीठ, टेसु बन राता।
बौरे आम फरै अब लागे, अबहुँ आउ घर, कंत सभागे।
सहस भाव फूलीं वनस्पती, मधुकर धूमहिं सँवरि मालती।
मो कहँ फूल भए सब काँटे, दिस्टि परत जस लागहिं चाँटे।
फरि जोबन भए नारँग साखा, सुआ बिरह अब जाइ न राखा।
घिरिनि परेवा होइ पिउ! आउ बेगिपरु टूटि।
नारि पराए हाथ है, तोहि बिनु पाव न छूटि॥

संदर्भ- प्रस्तुत पद्यांश जायसी रचित 'नागमती वियोग खण्ड' से अवतरित है। प्रस्तुत अवतरण में चैत में होने वाली नागमती की विरहानुभूति का वर्णन है।

व्याख्या- चैत में बसन्त की धूम-धाम है। परन्तु मेरे लिए संसार उजाड़ है। कोयल पंचम राग गाकर काम के पाँच बाण मारती है और रक्त के आँसू रोकर वन में बहाती है। उन आँसुओं में डूबकर वृक्षों के नये पत्ते ताम्र वर्ण हो गये हैं। मंजीठ भी उनसे भीग गया है और वन का टेसू उनसे लाल हो गया है। बौरे हुए आम फलने लगे हैं। नागमती कहती है कि हे सौभाग्यशाली कंत! अब तो घर लौट आओ। कहने का भाव यह है कि इस माँस में वृक्ष भी फलवान हो उठे हैं! एक मैं ही अभागिनी हूँ जिसकी मनोकामना फलवती नहीं हो रही है, तुम आकर उसे अब तो फलवती बना दो। वनस्पतियाँ सहस्त्रों रूपों में फैली हुई हैं। भौंरे मालती स्मरण कर घूम रहे हैं। शाखाओं पर खिले हुए फूल मेरे लिए काँटे बन गये हैं, इनको देखते ही शरीर में चींटे से लगने लगते हैं। नारंग

वृक्ष की शाखाओं में यौवन फल गया है। भाव यह है शरीरलता नारंग वृक्ष के समान हैं और दो कूच उसमें लगे हुए हैं नारंगी के फल हैं।

जिस प्रकार घिरिन परेवा (आकाश से टूटकर) आ जाता है, तू भी हे प्रिय टूटकर आ क्योंकि नारी पराए (विरह) के वश में हो रही है और तुम्हारे बिना उस परशता से छूट नहीं सकती है।

विशेष-

(1) **अलंकार-** *'रक्त रोय-ढारौं' में संबंध अतिशयोक्ति 'टूडो-शता' हेतूत्प्रेक्षा व्यंग्य। 'कटि-नारंग शाखा' में प्रौढ़ोक्तिसिद्दे रूपक अलंकार से उत्प्रेक्षा व्यंग्य है।*

(2) *यहाँ विरह वर्णन की व्यंजनात्मक शैली का अनुसरण किया गया है।*

(3) *यहाँ पर मरण नामक विरहावस्था की आशंका वर्णित है।*

(4) *यहाँ पर चिन्ता और स्मृति नामक विरह अवस्थायें व्यंजित की गई हैं।*

(5) *प्रश्न अवतरण में 'ऋतु' और 'प्राकृतिक' दृश्यों को विरहीद्दीपन के रूप में चित्रित किया गया है।*

इकाई-दो

विद्यापति के काव्य में भक्त या श्रृंगारी भाव

प्रस्तावना

साहित्य समीक्षकों के समक्ष विद्यापति भाषा, भाव, जन्म आदि को लेकर विवादास्पद रहे। भक्तों ने इन्हें शैव, शाक्त, पंचदेवोपासक वैष्णव एवं रसिकों ने इन्हें श्रृंगार रस का जीवित और साक्षात अवतार माना है। इतना ही क्यों इनको कभी तो कवि मात्र ही माना गया और कभी साहित्य का श्रृंगार, तो कभी मानस की विभूति।

विद्यापति एवं उनके भक्त का सूत्रपात

(1) 'विद्यापति के पद लगभग सबके सब वैष्णव पद या भजन हैं। जिस प्रकार सोलोमान के गीतो को ईसाई पादरी पढ़ा करते हैं उसी प्रकार भक्त हिन्दू विद्यापति के चमत्कारिक पदों को पढ़ते हैं एवं जग की काम वासना का अनुभव नहीं करते।'(ग्रियर्सन)

(2) 'विद्यापति की राधा-कृष्ण पदावली का सार यही है कि जीवात्मा परमात्मा को खोज रही है और एकान्त स्थान में परमात्मा से मिलने के लिए चिंतित है (नगेन्द्र नाथ गुप्त)

(3) हिन्दी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि प्रसिद्ध मैथिल कोकिल विद्यापति हुए। उनकी रचनायें राधा एवं कृष्ण के पवित्र प्रेम से ओतप्रोत हैं। (डॉ. श्याम सुन्दर दास)

(4) विद्यापति अपने को पत्नी समझकर ईश्वर (कृष्ण) की उपासना पति के रूप में करते थे।

भक्त प्रमाणित करने वाली दत्त कथायें

(1) राजा शिवसिंह को दिल्ली के बादशाह द्वारा कैद करना एवं विद्यापति को अदृश्य काव्य शक्ति के माध्यम से सद्यस्नाता एवं कुएं की मुंडेर पर आग फूंकने वाली रमणी का काव्यमय एवं रसात्मक चित्रण करना भी उन्हें भक्ति की ओर ले जाता है।

(2) इनकी प्रगाढ़ भक्ति से प्रसन्न होकर शिव का नौकर के रूप में सर्वोतत्पर रहना एवं बाद में रहस्य को प्रकट करना तथा भक्ति का स्रोत प्रवाहित होना और साथ ही एक बार यात्रा

में शीतल जल लाकर प्राण बचाना एवं पत्नी के मारने पर शंकर के अपमान की बात कहना विद्यापति के भक्त रूप को प्रमाणित करता है।

(3) विद्यापति अन्तिम समय गंगा में प्रवाहित होना चाहते थे एवं उनकी विनय सुनकर गंगा स्वयं उन्हें बहाकर ले गयी थी।

इन समस्त तर्कों और प्रमाणों के सन्दर्भ से या कहें कि विचारों की इस पृष्ठभूमि से निष्कर्ष निकलता है कि-

(1) विद्यापति प्रतिभाशाली आश्रु (तत्काल या शीघ्र) कवि थे एवं आस्थावान भक्त थे।

(2) साहित्य में इतनी उपाधियाँ धारण करने वाला संभवत: एक भी कवि नहीं हुआ। अभिनव जयदेव, कवि शेखर, कवि कंठहार, कविरंजन, राज पण्डित, खेलन कवि, सरस कवि, कविरत्न नवकवि, मैथिल कोकिल, आदि विद्यापति की उपाधियाँ है जो उन्हें प्रतिभाशाली कवि सिद्ध करती हैं।

विद्यापति के भक्त रूप का खंडन

(1) ग्रियसेन देश के किन महान भक्त से मिले थे एवं किन-किन ने उसको विद्यापति के कौन पद भावविभोर होकर सुनाये थे, कहा नहीं जा सकता है।

(2) उनके पास कौन सी विधि या यंत्र था जिससे उन्होंने अनुभव कर लिया था कि विद्यापति के पद गाने वाले काम वासना का अनुभव नहीं करते थे।

(3) विद्यापति ने रति क्रीडाओं के जितने सूक्ष्म, नग्न एवं अश्लील चित्र अंकित किये हैं, उन सबके प्रभाव में भक्ति की कल्पना करना व्यर्थ है।

(4) ईसाई व पारसी एवं मुसलमानों के द्वारा अपने धर्म ग्रंथों के समान पदावली को स्वीकार कर लेने वालां मत भी अधिक तर्कसंगत नहीं क्योंकि सभी ईसाई विद्वानों ने हमारे रामायण, महाभारत, भागवत आदि ग्रंथों को निरीह कल्प नाजन्व बताया है। क्या उनकी सम्मति से ही कोई भक्त या अभक्त हो सकता है। स्पष्ट है नहीं।

विद्यापति का प्रतिपाद्य श्रृंगार

(1) विद्यापति ने कीर्तिपताका में कहा है राम को सीता की विरह वेदना सहनी पड़ी अत: उन्हें काम-कला में चतुर अनेक स्त्रियों के साथ रहने की उत्कट अभिलाषा हुई। इसी कारण उन्होंने कृष्णावतार को लेकर गोपियों के साथ अनेक प्रकार के विहार किये।

(2) वे कबीर की भांति रहस्यवादी भक्त या सन्त नहीं थे। राधा-कृष्ण विषयक उनकी दृष्टि नायक नायिका मात्र है।

(3) विद्यापति महाकवि कालिदास व पं. जगन्नाथ की भाँति चोट खाए हुए थे। उनके हृदय में चिर काल से विरह वेदना विद्यमान थी। अत: उन्होंने प्रेम का कलह-कोलाहल मचाकर अतृप्त का अनुभव किया था।

(4) विद्यापति का रानी लखिमा देवी से गुप्त एवं अनंत प्रेम था एवं दरबार में अनेक रानियों के सम्पर्क में आये थे। जब तक वे लौकिक प्रेम में न रंगते तब तक उनका दरबार में बना रहा असम्भव था।

(5) यदि विद्यापति भक्त थे तो उन्हें दरबारों के विलासपूर्ण वातावरण में जाना नहीं चाहिए था।

(6) राज्याश्रित होने के कारण ही उन्हें आश्रयदाताओं एवं बादशाहों के संकेत एवं फरमाइश पर सद्यस्नाताओं के चित्र खींचने पड़े।

(7) विद्यापति एक ओर राधा एवं कृष्ण की रति-क्रीडाओं के चित्र खींचते हैं तो दूसरी ओर राजा रानी का रतिभाव चित्रित करते हैं।

यथा- ताह पर नाहर, हम पर नारी, कपि हृदय तुम प्रकृति विचारी।

मनहि विद्यापिता ग्राये, राजा शिवसिंह रूपनारायण, इह रस सकल से पाये।

(8) विद्यापति जिसका गायन करते है एवं शिवसिंह जिसमें रस पाते हैं, वह भक्ति नहीं श्रृंगार की अप्रतिम साधना है।

(9) विद्यापति ने अपने हृदय की वासना और प्रेम की अनुभूति को राधा कृष्ण के माध्यम से व्यक्त किया है। विद्यापति की पदावली वासना के रंग में डूबी हुई है। अत: उसमें धार्मिकता तथा दार्शनिकता खोज करना रेत से तेल निकालना होगा। प्रार्थना और नचारी पदों में भी आध्यात्मिकता का रंग कहीं भी नहीं दिखाई पड़ता है"।

विद्यापति के श्रृंगारी रूप के समर्थक विद्वान

(1) प्रेमचंद के शब्दों में, 'विद्यापति संधिकाल के कवि थे जबकि भक्तिकाल उदयावस्था में था। भक्त कवियों का ध्यान जहाँ केवल चरणों पर रहता था, वहाँ विद्यापति का ध्यान सम्पूर्ण शरीर पर रहता है।"

(2) डॉ. बाबूराम सक्सेना के शब्दों में "विद्यापति के पदों के अध्ययन से पता लगता है कि वे बड़े श्रृंगारी कवि थे। इन पदों को राधा-कृष्ण की भक्ति पर आरोपित करना पद-पदार्थ के प्रति अन्याय है। कवि विद्यापति के रसिक होने का परिचय उनके प्रथम ग्रंथ 'कीर्तिकला'पढ़ने से ही होता है। जौनपुर की वैश्याओं का और वहाँ की वनिताओं का जो वर्णन उन्होंने किया है वह उनके रसिक श्रृंगारी होने का पूर्ण परिचायक है।'

(3) पं. शिवनन्दन ठाकुर के शब्दों में, गुण-ग्राही राजा-रानी पाकर विद्यापति ने श्रृंगार रस की सरिता बहा दी है वही मुक्तक काव्य पदावली के नाम से प्रसिद्ध है।

(4) डॉ. रामकुमार के शब्दों में राधा का प्रेम भौतिक एवं वासनामय प्रेम है। उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना का साधन नहीं है।

इन समस्त मतों के आधार पर यह कहना उचित ही है कि विद्यापति एक श्रृंगारी कवि थे। विद्वानों के जो मत हमें प्राप्त हैं उनकी तीन श्रेणियाँ हैं-

(1) एक वर्ग तो उन लोगों का है जो विद्यापति को श्रृंगार का कवि मानते हैं।

(2) एक वर्ग उन्हें भक्त कवि के रूप में स्वीकार करता है।

(3) एक वर्ग वह है कि जो उनके श्रृंगारी पदों में रहस्यमयी भावना का आरोप करता हुआ एक प्रकार से अप्रत्यक्ष रूप से, उन्हें रहस्यवादी कवि मानता है।

इस प्रकार विद्यापति की पदावली का प्रतिपाद्य श्रृंगार ही है। यों कतिपय पद ऐसे भी हैं जो भक्ति भाव से ओत-प्रोत हैं। विद्यापति की अनेक स्तुतियों में शिवभक्ति के व्यंजक पदों में भक्ति के छोटे यंत्र-तंत्र मिल ही जाते हैं। कुल परम्परा और वैयक्तिक विचारधारा दोनों से शिव भक्त होते हुए भी राधा कृष्ण के प्रति भी उनकी अनुरक्ति कम नहीं थी। प्रत्युत शिवजी को राधा के अंगों का उपमान बनाकर राधा का पलड़ा भारी नहीं तो बराबर तो रखा है।

'जिम गज मौतिक हारा,

काम कम्बु भरि कनक संभु परि

ढारत सुरसरि धारा।'

निष्कर्ष - उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विद्यापति भक्त नहीं श्रृंगारी कवि हैं। इस कवि द्वारा प्रणीत राधा और कृष्ण के प्रेमिल पदों में श्रृंगार रस की प्रधानता है। इनके वय: संधि, नख शिख, सद्यस्नाता, प्रेम-प्रसंग, दूती, नोंकझोंक, सरवर शिक्षा, मिलन, सखी, संभाषण, कौतुक, अभिसार, छलना, मान, मानभंग, विदग्ध विलास, बसंत, विरह, भावोल्लास आदि से सम्बन्धित समस्त पदों में भौतिक प्रेम और काम-वासना की प्रधानता है। इस कवि के पदों में श्रृंगार की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती दिखाई देती है। डा. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने ठीक ही लिखा है कि विद्यापति के इन पदों में रहस्यवाद के दर्शन करना व्यर्थ है। संख्यभाव की उपासना को ढूंढना मिथ्या है और जीवात्मा-परमात्मा के संबंध की स्थापना करना कोरी खींचतान है। इनमें तो मानव की मूल भावना - काम का सांगोपाग चित्र अंकित किया गया है और इनका सम्बन्ध लौकिक जगत से है, परलौकिक से नहीं, क्योंकि इनमे जीवन के भौतिक आनंद का उज्जवल रूप अंकित है।

शिल्प विधान की दृष्टि से विद्यापति का काव्य

भाव काव्य-पुरुष की आत्मा है और शैली उसका शरीर। रचनाकार जो कुछ आस-पास के वातावरण से अनुभूत करता है व अपने मानवीय संवेगों में उद्घाटित करता है वह अपने भाव लोक में विचरता हुआ अपनी रचना को प्रस्तुत करने हेतु शब्द-शिल्प का आलम्बन करता है। अपने भावों को संवारता है व उसे उचित शब्दों के माध्यम से व्यक्त करता है। जो कवि अपनी रचनाओं से जितना अधिक रसमग्न करने की क्षमता रखता है उसकी कविता का कलापक्ष अथवा शिल्प विधान उतना ही सुसज्जित होता है। विद्यापति का भाव लोक जितना विस्तृत था, उनका शिल्प उसे अभिव्यक्ति देने में सक्षम रहा है।

संस्कृत, अवधी, मैथिली, बंगला, अपभ्रंश तथा प्राकृत भाषाओं पर प्रभावी अधिकार होने के कारण उनका शब्द संसार विशाल था। वह शब्द, पद व वाक्य योजना में पारंगत थे। ओज, प्रसाद व माधुर्य उनकी कविता में सहज रूप से विद्यमान है। लोकभाषा की निकटता से उनका काव्य जनाकांक्षाओं को प्रतिबिम्बित करने में अधिक सक्षम रहा है। शब्दों के मर्म ज्ञान व अर्थगर्भित शब्द योजना में वह सिद्धहस्त थे।

उनके काव्य में साहित्य व संगीत का संगम है। अपने प्रयोजन की सिद्धि हेतु उन्होंने देशकाल से भाषा का सुखद माध्यम ही ग्रहण किया था जिसकी सुन्दरता, मधुरता और कमनीयता को संस्पर्श करने की दृष्टि तथा ध्वनि-संवेदना में वह असाधारण रूप से सम्पन्न थे। वह अपने सूक्ष्म विवेचन की परिकल्पना से इतने आश्वस्त थे कि सम-कालीन विद्वानों व साहित्यकारों की मान्यता के विरोध में उन्होंने काव्य में प्रयुक्त भाषा के विषय में अपना बेबाक पक्ष रखा।

लोकानुरंजन के प्रति उनका अनुराग निरन्तर रहा। इसी उद्देश्य की पूर्ति हेतु उन्होंने लोक भाषा को अपने रचना संसार का माध्यम बनाया। लोक भाषा की रचनाओं को उत्तम मानकर विद्यापति ने साहस का परिचय दिया क्योंकि उस समय पंडितजन संस्कृत से इतर भाषा में काव्य-सृजन को उपहास की दृष्टि से देखते थे।

उनके आत्मविश्वास के फलस्वरूप ही उनका काव्य जन-जन का गीत बन गया। यह उनकी लोकप्रियता का सटीक प्रमाण है कि सुन्दर पनिहारिनों व हल चलाते किसानों के मुख पर विद्यापति इतने आसक्त हुए कि उन्होंने सुमति नाम के एक संगीतकार को उनके काव्य में विद्यमान राग-रागनियों को संगीतबद्ध करने हेतु नियत किया था।

भाषा के विषय में विद्यापति के काव्य की सबसे बड़ी विचित्रता यह है कि उन्होंने मैथिली भाषा में एकमात्र कृति का सृजन किया। रचना काल के दृष्टिकोण से वह पदावली समग्र जीवन

बिन्दुओं को संस्पर्श करती रही है। उन्होंने संस्कृत भाषा में 11 व अवहट्ठ में 2 ग्रंथों की रचना की । लेकिन इतिहास इस बात का साक्षी है कि विद्यापति की कीर्ति का प्रमुख आधार उनकी पदावली ही सिद्ध हुई है। उनके सम्पूर्ण भाषा-शिल्प योजना के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि वे अन्य ग्रन्थ प्रतिभा स्थापन के लिए उस युग के मूलाधार थे। अपने पाण्डित्य को उन्होंने संस्कृत ग्रन्थों के द्वारा प्रदर्शित किया है। उनकी आत्मा केवल पदावली में बसती है जिसे उन्होंने भावना के सागर में डूबकर तथा कल्पना लोक में मुक्त विचरण कर सृजन किया।

रचनाओं के उपरोक्त विवरण के आधार पर उनका मनोवैज्ञानक विश्लेषण करें तो यह निष्कर्ष निकलता है कि उनका व्यक्तित्व विभाजित था। आत्मसम्मानी के साथ ही मधुर भावों के सुखद क्षणों को जीवन्तता प्रदान करना तथा अपने राजाओं का स्तुतिगान करना उनके दोहरे व्यक्तित्व को उजागर करता है।

ओज गुण- शब्द योजना भाव लोक के निकट है तथा बिम्ब भी सारगर्भित अर्थ लिए है। उनकी भाषा ओज गुण से परिपूर्ण है तथा राजसी भावों का सजीव चित्रण करती है।

प्रसाद गुण- साधारण प्रसंगों, कथा वर्णनों आदि में प्रसादयुक्त शब्दावली का प्रयोग किया गया है जिसमें न समाप्त है और न ही कर्ण कटु शब्द व संयुक्ताक्षर-

नन्दक नंदन कदम्ब क तरू पर,
धिरे धिरे मुरलि बजाव।
समय संकेत-निकेतन बइसल,
बेरि-बेरि बोल पठाव॥

माधुर्य गुण- माधुर्य व प्रसाद लाने के लिए कवि शब्दों को सघोष से अघोष और महाप्राण से अल्पप्राण कर लेते हैं- धिरे-धिरे, अनुखन, उद्वेगल, मुरछाइल आदि शब्द इसी के उदाहरण हैं। शब्दों की द्विरुक्ति, सानुप्रासिकता, सानुनासिकता से माधुर्य की सृष्टि की गयी है।

व्यंजना शक्ति- कवि की भाषा ध्वनि व व्यंग को आप्लावित करती है। इन विशेषताओं से चमत्कार पैदा होता है तथा नायिका-नायक की आपसी नोंकझोंक को सजीवता प्राप्त होती है-

कर धरू करू मोहे पारे,
देव मैं अपुरव हारे कन्हैया।
सखि सब तजि चलि गेली,
न जानू कौन पथ मेली कन्हैया।
हत न जाएब तुअ पासे, जाएब औघट घाटे, कन्हैया।

इन पंक्तियों में नायिका नायक को व्यंग्य के माध्यम से कामासक्त कर रही है, वह कहती है कि मैं निपट अकेली हूँ और विलम्ब होने पर पथ अज्ञात होने का बहाना भी चल जायेगा, अत: मेरे हाथ नि:संकोच थाम लो। मैं आज तुम्हें गलबहियों का अनुपम हार प्रदान करूंगी।

लक्षणा शक्ति- उपरोक्त उदाहरण में 'अपुरव हारे' में लक्षणा शक्ति से उपलब्ध लक्ष्यार्थ हमें व्यंग्य के अर्थ के पूर्ण लक्ष्य के समीप ले जाता है। अभिधा, लक्षणा और व्यंजना शक्तियों का इस प्रकार परस्परावलम्बी प्रयोग समूचे हिन्दी साहित्य में यदा-कदा ही मिलता है। उनके पदों में वाक्यों के अर्थ बाधित हों अथवा नहीं, लक्ष्यार्थ व व्यंग्यार्थ ही उनके प्रमुख लक्षण हैं। यहाँ दो अर्थ हैं प्रथम आसक्ति पक्ष द्वितीय भक्ति पक्ष। दोनों ही पक्षों में व्यंग्य समाहित है।

अर्थ विस्तार- विद्यापति एक ही शब्द को भिन्न-भिन्न अर्थों में प्रयुक्त कर अर्थ-विस्तार कला में भी सिद्धहस्त थे। 'आरति' शब्द का ही अर्थ कहीं विनय है, कहीं दुहाई है और कहीं पैरों में गिरना है। इस शब्द का अर्थ आगे विह्वलता, अनुरोध व बेचैनी परिलक्षित होता है।

प्रतीक व बिम्ब योजना- बिम्बात्मकता व प्रतीकात्मकता उनके काव्य की प्रमुख विशेषता है। इसी शिल्प गुण का निर्वाह करते हुए वह विभिन्न भावों को उद्घाटित करने हेतु प्रतीक-प्रद्धति का प्रयोग करते हैं।

कंचन ज्योति कुसुम परकास,
रतन फलव बेलि बढ़ाओल आस।
तकर भूले देल दूधक धार,
फले किछुन हेरिए झनझनिसार॥

उपरोक्त उद्धरण में कंचन-कुसुम, पानि दूधेक, रतन आदि शब्द प्रेम, अभिलाषा व भोग-विलास के प्रतीक बन गये हैं। वह अपनी सूक्ष्म कल्पना से विशेष पदार्थों को इस प्रकार अभिलष करते हैं कि बिम्ब सशक्त बनकर उभरता है। रूप चित्रण में वातावरण व देह सम्बन्धी सौन्दर्य का अवलम्बन करते हैं। शब्द योजना से अनुभूति साकार हो जाती है। वह भाव-आयोजन व रूप चित्रण दोनों के द्वारा बिम्ब की सृष्टि करते हैं।

संगीतात्मकता बोध- विद्यापति का काव्य संगीतात्मकता से आप्लावित है। उन्होंने अपनी रचनाओं में शब्द शिल्प का विशेष ध्यान रखा है। हर शब्द अपना संगीत लिये हुए है जिसके कारण वह सहज व मनभावन लगते हैं। यथा-

घन-घन घनन घुंघुर कत बाजए,
हन-हन कर तुअ काता।
विद्यापति कवि तुअ पद सेवक,
पुत्र विसरू जनि माता॥

इन पद्यांशों में ध्वनि-व्यंजना कवि की सूक्ष्म नाद संवेदनशीलता की परिचायक है।

लोकगीतात्मकता- उन्होंने अपने काव्य में लोकगीतों की शब्द माधुरी बजायी है। लोक साहित्य व लोक जीवन को आत्मसात करने के कारण उनकी रचनाएँ जन-जीवन में प्रभावी रूप से प्रविष्ट हो गयी हैं। महिलाएँ, पुरुष, बाल, वृद्ध आज भी उनके लोकगीतों को गुनगुनाते अपने श्रम में तल्लीन रहते हैं-

सुन रसिया,
अब न बजाए बिपिन बसिया।
एवं
सखि मोर पिया,
अबहु न आओल कुलिस हिया।

अलंकार-योजना- विद्यापति मूलतः श्रृंगारिक कवि हैं। श्रृंगार कविता में अलंकार प्रचुरता से समाविष्ट रहता है। उन्होंने अलंकार योजना के द्वारा अपनी रचनाओं को शिल्प विधान की दृष्टि से उल्लेखनीय बनाया है। सभी अलंकार उनकी पदावली में सहज ही दृष्टिगोचर होते है। यथा-

अनुप्रास– **कमल मिलल दल मधुप चलत घर,**
बिहग गहल निज ठामे।

यमक – **सारंग नयन, वमन पुनि सारंग सारंग तसु समधाने,**

सारंग उपर उगल दस पारंग, केलि करिथ मधु पाने।

उपरोक्त विश्लेषण से निष्कर्ष निकलता है कि भाषा, शब्द शक्ति, गुण, प्रतीक, बिम्ब, अलंकार योजना, नाद-सौन्दर्य व छन्द विधान में पारंगत होने पर भी उन्होंने किसी भी तत्व को काव्य की आत्मा 'रस' पर कृत्रिम रूप से आरोपण कर दुराग्रहपूर्ण अति का उदाहरण प्रस्तुत नहीं किया। काव्य उनके लिए अन्य कृतियों में साधन भले ही रहा हो किन्तु पदावली में साध्य ही था। लोकानुरंजन ही उनके कृतित्व में विशेष रूप से सजीव हो उठता है। उनकी रचनाएं न तो गम्भीरता के अथाह सागर की भाँति दुरुह व अगम्य हैं न ही भावना लोक में मुक्त विचरती हैं। उनके सम्पूर्ण सृजन पर दृष्टिपात किया जाये तो स्पष्ट होगा कि उनका काव्य मानवीय संवेदनायुक्त व संगीत-सौन्दर्य व लोक नृत्यों का अनूठा संगम है।

मुक्तक काव्य परम्परा में विद्यापति का योगदान

काव्य स्मृति व स्मरणीय स्वरूप में उपलब्ध होने के कारण गद्य का पूर्ववर्ती कहा जाता है फिर भी वस्तुत: ऐसा नहीं है। ऐतिहासिक तथ्यों व उपलब्ध प्रमाणों के आधार पर सत्यता के निकट न पहुंचने की अपनी अनभिज्ञता के कारणवश ही भाषा वैज्ञानिकों तक ने पद्य को गद्य का अग्रज घोषित करने की भूल की है और इस मनोवैज्ञानिक तथ्य को अनदेखा कर दिया कि सायास और अनायास शब्द सापेक्ष अथवा तुलनात्मक हैं। जो कार्य विशुद्ध रूप से अनायास प्रतीत होते हैं, उनकी भूमिका में प्रयास का अभाव नहीं होता। भाषा किसी भी राष्ट्र की हो, अपेक्षाकृत अनायास अभिव्यक्ति ही सायास अभिव्यक्ति की पूर्ववर्ती हो सकती है। वास्तव में दैनिक प्रयोग की भाषा ही परिष्कृत होकर काव्य भाषा तब बनी जब जीवन के किसी दुर्लभ सत्य या सुन्दर अनुभूति को परवर्ती पीढियों के लिए तथा अपने अतिरिक्त औरों के लिए सुरक्षित रख छोड़ने की आवश्यकता का प्रादुर्भाव हुआ। यह सत्य या अनुभूत भाषा ही कालान्तर में भाव सौन्दर्य व कल्पना से अलंकृत कर दी गयी।

कवि विद्यापति के पदों में मुक्तक की समस्त विशेषताएँ तो पाई जाती हैं, उनमें पद शैली का भी निखार चरमोत्कर्ष बिन्दु तक पहुंचा है। काव्य की अनेक विधाओं की तरह गीतिकाव्य चूंकि सचेत बुद्धि व्यापार से उत्पन्न वस्तु नहीं है, इसलिए आदि-मानव के अति पुरातन और आरम्भिक भावों के साथ ही गीतिकाव्य का जनम हुआ। हालांकि यह कहना कठिन है कि गीतिकाव्य के आविर्भाव का निश्चित समय क्या है ? किन्तु इतना सत्य है कि संवेगों की तीव्रता और उद्वेलन की सामान्य परिस्थितियों में भावाकुल अभिव्यक्ति ने स्वरों का रूप लिया-ऐसे शब्द और अर्थ तथा उनकी पुनरावृत्ति, यही गीतिकाव्य के आदि स्रोत हैं। महादेवी वर्मा का मत है-

'सम्भव है, जिस प्रकार मेघ को घुमडता-फिरता देखकर मयूर नाच उठता है उसी प्रकार मनुष्य ने भी पहले-पहल अपने भावों का प्रकाशन ध्वनि और गति के द्वारा किया हो।' सुप्रसिद्ध रचनाधर्मी महादेवी वर्मा ने गीति-काव्य के मर्म को उसकी आदिकता संगीतात्मकता से इस प्रकार शब्दांकित किया है- 'चिड़ियों से खेत की रक्षा करने के लिए मचान पर बैठा हुआ युवक कृषक तब अचानक खेत और चिड़ियों को भूलकर बिरहा या चैता गा उठता है, तब उसमें खेत-खलिहान की कथा न कहकर अपने किसी विरह-मिलन की स्मृति को ही दुहराता है। चक्की के कठिन पाषाण अपनी सांसों से कोमल बनाने का निष्फल प्रयत्न करती हुई दरिद्र स्त्री जब इस प्रयास को रागमय करती है, तो उसमें चक्की और अन्न की बात न होकर किसी आम्रवन में पड़े झूले की मार्मिक कहानी रहती है।'

प्राचीन भारतीय गीतिकाव्यों में अधिकांशत: धार्मिक और भक्तिपरक स्तुतियाँ ही प्राप्त होती हैं। वैदिक ऋचाएं गायी जाती थीं। वैदिक युग में भारतीय समाज बहुत कुछ आदिम स्तर पर

कबीला समाज था। उसमें समूह श्रम की प्रथा थी। मनुष्य सामाजिक नियमों से आज की भांति कठोरता से आबद्ध नहीं था। उनके आहार-विहार स्वच्छन्द व उन्मुक्त थे। तत्पश्चात् सामाजिक असन्तुलन और उलझनों के कारण जीवन में जो एकरसता और सन्देह की स्थिति बढ़ी, उसका प्रभाव पौराणिक देवों के स्तुतिवन्दन व रहस्यवादी अशरीरी उपासना के गीतों में सहज दिग्दर्शित होता है।

संस्कृत् गीतिकालीन काव्य का पुनर्विकास जयदेव के गीत 'गीत गोविन्द' में दिखाई दिया। मध्यकालीन युग में संस्कृत जनभाषा नहीं रही। प्राकृतों का प्रभाव चौथी शताब्दी से ही बढ़ने लगा था। संस्कृत कवि प्राकृतों को स्वीकार करते थे किन्तु इनका उपयोग ग्रामीण और असभ्य लोगों के वार्तालाप की भाषा के रूप में करते थे। इस प्रकार जनभाषा के प्रति तिरस्कार की भावना उनमें बलवती थी।

प्राकृत में बौद्धों की गाथाएं गीत ही है जिनकी भाषा प्राकृत का एक प्रादेशिक रूप है। प्राकृत से यह परम्परा अपभ्रंश में भी अवतरित हुई और शौर्यात्मक प्रेमविषयक व साधनात्मक गीतों के रूप में विद्यमान रही। प्राचीन हिन्दी में सरहपा और वीणापा नामक साधकों की रचनाएँ गीतिकाव्य की दृष्टि से अत्यन्त प्रसिद्ध है। वीणापा का नाम ही उनकी गीति रचना की योग्यता के अतिरिक्त उनकी वीणावादन कुशलता का प्रतीक है। गाथा शैली की गीति रचनाओं में बीसलदेव रासो और आल्हखण्ड विशेष विख्यात है। अमीर खुसरो के गीतों पर उनके संगीत-नैपुण्ड की स्पष्ट छाया है।

विद्यापति से पूर्व हिन्दी में गीति परम्परा नाममात्र की थी। वीरगाथाओं में अपभ्रंश का प्रभाव तथा अमीर खुसरो के गीतों में फारसी-अरबी भाषा का प्रभाव इतना अधिक है कि उन्हें हिन्दी के स्वतन्त्र गीत मानने में संकोच अनुभव होता है। सरहपा और वीणापा के गीतों में भी अपभ्रंश की भाषागत प्रधानता व सम्प्रदाय-विशेष का भावगत प्राधान्य है। इन्हीं कारणों से उन गीतों में भी गीति-इतिहास की मात्र औपचारिकता ही पूरी होती है। विकास क्रम की श्रृंखला में आद्यन्त बिखरी हुई कड़ियाँ जुड़ भर जाती हैं। पुष्ट, एकरसता व तारतम्यमयी सुस्पष्ट परम्परा का निर्माण नहीं होता। अत: हिन्दी गीति-परम्परा को विद्यापति से आरम्भ माना जा सकता है। विद्यापति के गीतों का व्यापक व दूरगामी प्रभाव हिंदी के परवर्ती गीतों व मुक्तकों में पाया जाता है और परवर्ती कवियों द्वारा आदर्श मानकर विद्यापति के गीतों से जो अनुकरणात्मक प्रेरणा ली गयी, उससे गीतिकाव्य परम्परा का हिन्दी साहित्य स्रोत विद्यापति को ही माना जा सकता है। इस सन्दर्भ में डॉ. जगन्नाथ नलिन का स्पष्ट अभिमत है- 'वह (विद्यापति) प्रथम गीतकार ही नहीं, हिंदी के दो-चार चुने हुए सर्वोत्तम गीति-शिल्पियों में से हैं और यदि उत्तराधिकार से प्राप्त गीति सम्पत्ति को दृष्टि में रखें तो विद्यापति ही हिन्दी के सबसे अधिक कमाऊ सपूत साबित होंगे। विद्यापति ने पूर्वजों से नहीं पाया, पर आने वाली पीढ़ियों के लिए रत्नराशि छोड़ गये।'

विद्यापति का गीति परम्परा में महत्वपूर्ण योगदान रहा। उनके द्वारा प्रदत्त देय का उपयोग परवर्ती पीढ़ी ने प्रचुरता से किया।

विद्यापति के गीतों का प्रभाव अवधी तथा ब्रजभाषा के पदों तक आकर ही समाप्त नहीं हो जाता अपितु उसका प्रभाव अवधी व खड़ी बोली के काव्य में भी स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। भारतेंदु के पद व गीत स्वतन्त्र रूप से भी रचित हैं और उनके नाटकों में भी बिखरे हुए मिलते हैं, उनकी विषयवस्तु भले ही बदलती हो, लेकिन विद्यापति का प्रभाव भी दृष्टिगोचर होता है। मैथिलीशरण के स्फुट मुक्तकों के अतिरिक्त उनके महाकाव्य 'साकेत' के नवें व दसवें सर्ग में भी खड़ी बोली के कुछ सुन्दरतम गीत मिलते हैं। प्रसाद, पन्त, निराला और डॉ. रामकुमार वर्मा के छायावादी गीतों की विषयवस्तु यद्यपि काफी बदल गयी है व शिल्प पर भी पाश्चात्य प्रभाव की झलक मिलती है फिर भी उनकी मूल प्रेरणा एवं वैयक्तिक तन्मयता की नादाकर्षणमयी तीव्रता हमें

विद्यापति का ही स्मरण कराती है। हिंदी के प्रयोगवादी काव्य में यद्यपि गीत-संगीत तत्व की सप्रयोजन अवहेलना हुई है फिर भी कतिपय प्रगतिशील गीतकारों ने नाद संवेदनीयता से लाभान्वित हो अपने गीतों को आकर्षक बनाने का उद्यम किया है। भगवतीचरण वर्मा के इस गीत में यह तत्व स्पष्ट रूप से सजीव हो उठता है-

चरमर-चरमर चूँ चरर-मरर,
जा रही चली भैंसा गाड़ी।

इस सन्दर्भ में यह उल्लेखनीय है कि महादेवी वर्मा के गीतों का अध्ययन किये बिना गीति साहित्य का विकासात्मक विश्लेषण अधूरा ही रह जाएगा। महादेवीजी के गीतों में जहाँ गीतिशिल्प का चरमोत्कर्ष अपनी सम्पूर्ण साहित्यिक गरिमा के साथ पाया जाता है, वहाँ विषयवस्तु एवं भावना के क्षेत्र में भी उनके गीत उपासना के उपकरण बन गए हैं। सम्भवत- अपने दीप-गीतों की साधनात्मक ज्वाला को अक्षुण्ण रखने के लिए ही इस कविता का सृजन किया-

'यह मन्दिर का दीप, इसे नीरव जलने दो।'

विद्यापति ने अपने मुक्तकों के माध्यम से जीवन के मिलन व विरह के आयामों के साथ ही भक्तिभाव को भी सजीवता से शब्दांकित किया है। उनका प्रत्येक पद अपने आप में पूर्ण है व उसका स्वतंत्र अस्तित्व है। उन्होंने मिलन-विरह, उत्कंठा, अभिसार, रति, मान-मनुहार, अनुराग आदि मानवीय भावों के स्वतंत्र चित्र उकेरे हैं। उनके मुक्तकों में वैशिष्टय है। वह अज्ञात यौवन को प्रस्तुत करने के साथ ही सद्य:स्नाता की मनोहारी छवि को प्रसतुत करते हैं। भाव विविधता उनके मुक्तकों की मुख्य विशेषता है।

भक्तिकाव्य के संसार में वह किसी विशेष मत अथवा सम्प्रदाय से नहीं जुड़ते। वह शिव,शक्ति, कृष्ण, गंगा आदि सभी के प्रति विनयावनत हैं। भक्ति के लिए जिस वैराग्य, संसारी वस्तुओं के प्रति क्षणभंगुरता की दृष्टि, दीनता और हीनता की समस्त अपेक्षाएं, उनके काव्य में प्रचुरता से विद्यमान हैं। भक्ति की पुकार व आकुलता अनुभूति की सहजता व तीव्रता सभी की उनके काव्य में प्रभावी ढंग से अभिव्यक्ति हुई है। भक्ति सम्बन्धी काव्य सृजन के उपरान्त भी उन्हें मात्र संत अथवा भक्तकवि कहकर उल्लेखित नहीं किया जा सकता।

विद्यापति मूलत: श्रृंगारी कवि हैं। उनका समूचा काव्य श्रृंगार के प्रति ही अधिक समर्पित है। श्रृंगार में उनकी प्रतिभा के साक्षात दर्शन होते हैं। इस संदर्भ में उनके पदों में नख-शिख वर्णन, वय:सन्धि, योवन, प्रेम, प्रेमांकुर की उत्तरदायी दूती मिलन, विरह, मान-मनुहार, संभाषण चार्तुय, अभिसार, छलना व प्रेमिका-प्रेमी की आपसी नोंक-झोंक का सजीव वर्णन मिलता है। अनुभाव, विभाव व संचायी भाव का चित्र प्रस्तुत कर विद्यापति ने अपने वर्ण्य विषय को प्रभावोत्पादकता, सजीवता व स्थायित्व प्रदान किया है। यौवन की विभिन्न क्रियाओं-प्रतिक्रियाओं का विशद वर्णन कर उन्होंने श्रृंगार को परिपूर्णता प्रदान की है।

भक्ति – कवि के रूप में उन्हें हिन्दी साहित्य में विशिष्ट दर्जा प्राप्त नहीं है। वह मूलत- श्रृंगारिक कवि है व उनके परवर्ती कवियों ने उनके नख-शिख वर्णन, सौन्दर्य वर्णन व विरह आदि को अपने लेखन में अधिक महत्व दिया।

डॉ. रामकुमार वर्मा ने इन शब्दों में उनकी सार्थकता को चित्रित किया है- 'विद्यापति के इस ब्रह्म संसार में भगवत् भजन कहाँ, इस वय: सन्धि में ईश्वर से सन्धि कहाँ, सद्य:स्नाता में ईश्वर से नाता कहाँ और अभिसार में भक्ति का सार कहाँ। उनकी कविता विलास की सामग्री है, उपासना की साधना नहीं। उससे हृदय मतवाला हो सकता है, शान्त नहीं।'

गीति काव्य की परम्परा में विद्यापति की देन

गीति काव्य परम्परा एवं विद्यापति की देन

1. **गीत शब्द का विविध पणीय एवं भ्रामक प्रयोग-** (1) कभी ऊहात्मक संकुचित एवं कभी प्रशंसा का पर्याय। (2)स्तुति भी गीत है, प्रस्तुति भी गीत। (3)गीत ही नये गीति, प्रगति आदि का रूप धारण कर नये रूप तत्व को ग्रहण करता है।

2. **गीत शब्द की परिभाषा एवं विवेचन-** (2)शास्त्र एवं कला के विवेचक गीत की अनेक परिभाषायें कर चुके हैं। (2)वेदों में सामवेद गीत सम्बन्धी वेद है एवं भरत मुनि का नाट्यशास्त्र भी संगीत का विवेचक है।

3. **पाश्चात्य विद्वान एवं गीति की व्याख्या-** (अ) हडसन के अनुसार गीतिकाव्य की परिधि में विशाल मानव समाज एवं व्यक्ति दोनों से सम्बन्ध रखने वाली अनुभूतियां आ सकती हैं। प्रेम, आशा, आकांक्षा, निराशा, वेदना, उल्लास, देशभक्ति सभी गीतिकाव्य का विषय बन सकता है। एक ही संक्षिप्त सगन भाव का विभास उसमें होना आवश्यक है। (ब) जार्ज सेन्ट्स वर्ग के अनुसार गीत वही है जिसमें अनुभूति एवं भाव के अनुसार भाषा एवं छन्दों का चुनाव हो। (स) विलियम गीत को कवि की भावनाओं के प्रकाशन का परिणाम बताते हैं। (द) डॉ. सिद्धेश्वर वर्मा मानसिक आनन्द को गीत का गुण मानते हैं। (य) आचार्य शुक्ल के अनुसार गीत की मधुर ध्वनि में प्रवाह के मध्य कुछ चुने हुए व्यापार एवं पदार्थों की झलक आदि होती है। (र) महादेवी वर्मा के अनुसार 'सुख-दुख की भाव-विगमयी अवस्था विशेष का गिने चुने शब्द का स्वर साधना के उपयुक्त चित्रण कर देना ही गीत है।'

निष्कर्ष- गीत के लिए आत्मानुभूति, परानुभूति गेयत्व एवं संक्षिप्तता आवश्यक है।

4. **गीति काव्य की अनिवार्य अपेक्षायें-** (1)गीति काव्य में तन्मय करने की शक्ति होनी चाहिए। (2)गीति वस्तुतः सृष्टि की प्रकृति है। उसमें वायु की सनसनाहट, पानी की कलकलाहट, पक्षियों की कलरव ध्वनि एवं मनुष्य का सुख-दुःख सभी गीति की परिधि में आ जाता है।

5. **मानव सभ्यता एवं गीतात्मक विकास-** (1)सामवेद को मानव जाति का सर्वाधिक प्राचीन गीति ग्रंथ बताया गया है। सामवेद के गान के आधार पर ही राग-रागनियों के रंग,रूप, स्वर, ताल प्रभाव, वाद्ययंत्र, देव-देवता, ऋतु प्रकृति आदि सभी का निर्धारण हुआ। (2) संस्कृत साहित्य का बहुत सा भाग संगीतमय है। महाकवि कालिदास के ऋतु संहार व मेघदूत को श्रेष्ठ गीति काव्य माना जाता है। (3)संस्कृत की पउरपंचिसिका, अवधत भामिनी विलास गीति शैली की विशेष रचनायें हैं। जयदेव की गीति गोविन्द तो संस्कृत गीतिकाव्य का सर्वोत्तम रत्न है (4)हिंदी में गीतिकाव्य की प्राचीन कृति सरप्पा की रचनायें हैं। सिद्ध लोग गा-गाकर अपनी गीतियों का पूर्ण प्रचार करते थे। कहने की आवश्यकता नहीं कि इनमें शांत एवं श्रृंगार रस के गीत अत्यन्त संक्षिप्त हैं।

6. **विद्यापति के गीतिकाव्य की विशेषतायें-** (1) डॉ. जगन्नाथ नलिन ने कहा है कि - विद्यापति पदावली मूर्च्छना भरे संगीत की रंगस्थली है एवं आत्मविस्मृत कर देने वाली अनूभूतियों का साधना मंदिर है। (2)विद्यापति के गीतों की परख के लिए- निम्नांकित तत्वों पर ध्यान जरूरी है- (i) गेयता (ii)भाव प्रसार, (iii)प्रभाव सीमा।

(i)**गेयता-** विद्यापति के गीत पूर्णतया गीतात्मक हैं। उनमें अपेक्षाकृत लय एवं स्वरताल है। उन्होंने कोमल कांत पदावली को मुख्यता प्रदान की है। जैसे-

अपूरब के बीहि, आनि मालाजोल, लावनिसार।

नाद सौन्दर्य के लिए उन्होंने सानुप्रास पदावली, शब्दों की पुनरुचि एवं गुण या क्रिया से सम्बन्धित शब्दों का प्रयोग किया है यथा- जयजय, भैरवी, असुर, भयाउनि, पशुपति, भामिनी, माया

(ii) **भाव-प्रसार**- विद्यापति की पदावली अपरिमित है। एक ओर उनके गीत भक्तिभाव की सात्विकता लिये हुए हैं दूसरी ओर श्रृंगार की माधुरी से मंडित हैं। एक ओर वीर भाव की ओजस्विता है, तो दूसरी ओर चमत्कारपूर्ण कौतूहल। दीनतापूर्वक आराध्य के चरणों में आत्म समर्पण सर्वत्र विद्यमान है। वे चाहे शिव की या दुर्गा मैया की शक्ति में तल्लीन हो आत्मसमर्पण सर्वत्र विद्यमान रहता है।

(iii) **प्रभाव-सीमा** (1) विद्यापति के गीतों की प्रभाव-सीमा विस्तृत है। विद्यापति के गीतों ने भक्त कीर्तनीय साधु, जीवन में लिप्त भोगी, विरक्त वैरागी, क्या नर क्या नारी सभी को प्रभावित किया है। (2)मिथिला के लोकमानस में उनके गीतों का प्राचुर्य उसकी प्रभाव-सीमा के कारण है। (3)विद्यापति की गीति गंगा महाप्रभु चैतन्य से आत्मविस्मृति के लोक में ले जाने की अपूर्व क्षमता रखती थी।

निष्कर्ष- विद्यापति के गीतों में एक ओर लोकभाषा की सरलता, सरसता एवं सुकुमारता है तो दूसरी ओर अनुपम माधुरी एवं सौन्दर्यमयता भी मिलती है। एक ओर वे हिंदी के आदि गीतकार हैं व परवर्ती गीतकारों को प्रभावित करने की क्षमता रखते हैं। उनका गीतिकाव्य मानस का प्रतिबिम्ब है और उसमें कितने ही रसिकों के लिए रसनीय सामग्री का भण्डार है। निश्चय ही विद्यापति की देन गीत के क्षेत्र में सर्वोपरि है।

विद्यापति का प्रदेय

(1) सिद्धों, नाथों एवं जैनाचार्यों की भाँति विद्यापति ने भी साम्प्रदायिक विश्वास जमाने वाले साहित्य की रचना की। यथा दुर्गा भक्त तरंगिणी शैव सर्वस्व सार और इनके साथ ही प्रमाणभूत पुराण संग्रह इसके प्रमाण हैं। (2)विद्यापति की वह देन भी महत्वपूर्ण है जिससे परवर्ती कवि गौरवान्वित हुये। विद्यापति ठाकुर ऐसे सारस्वत-वैभव सम्पन्न कवि थे जिनकी कविताओं के चारू चमत्कार से व्यक्ति मुग्ध हुए और उसी में डूबते गए। (3) अंग्रेजी साहित्य के स्पेन्सर की चार्ल्स लैम्ब ने कवियों का कवि कहकर प्रशंसा की है। वही उपाधि हम विद्यापति के लिए प्रायोगित कर सकते हैं, (4)पूर्ववर्ती मध्ययुगीन हिन्दी कविता ने भाव एवं शैली दोनों ही क्षेत्रों में विद्यापति को अपनाया है। (5) कबीर आदि संतों को भी विद्यापति ने प्रभावित किया हो तो कोई आश्चर्य नहीं क्योंकि कबीर की वाणी में गोविन्द माधो, गिरधर, मुरारी, मधुसूदन, बनवारी आदि विशेषणों में विद्यापति का प्रवाह लक्षित होता है। (6)महाकवियों ने गीतिशैली विद्यापति से ही सीखी। सूर के गीतिकाव्य में राधा-कृष्ण का हास विलास विद्यापति से ही आया प्रतीत होता है। (7) अष्टछाप के प्राय: समस्त कवि विद्यापति के ऋणी हैं। कहने की आवश्यकता नहीं कि उन्होंने श्रृंगार के आलम्बन, आश्रय, अनुभाव, संचारी चेष्टायें आदि अधिकतर विद्यापति से ही ग्रहण की हैं। (8) घटना साम्य, भाव-साम्य रूप, सौन्दर्य चित्रण आदि को देखकर कहा जा सकता है कि कृष्ण भक्त कवियों में राधा कृष्ण का जो श्रृंगारी यौवन विलासी सौंदर्य, तृषित एवं कामतृप्त रूप है वह विद्यापति की ही देन कहा जा सकता है।

निष्कर्ष

विद्यापति नदी के उस बाँध की भाँति हैं जहाँ पानी आकर एकत्रित हुआ है एवं आवश्यकतानुसार अनेक धाराओं से बह निकला है। सत्य है कि उन्होंने पूर्व से आती हुई परम्परा को एकाकार किया है एवं वहाँ से वे धारायें फिर से नये रूपों में सज सँवरकर विकसित होती हुई निरन्तर आगे बढ़ती दिखाई देती हैं। डॉ. शिवप्रसाद के शब्दों में विद्यापति संभवत- अपने काल

के इस तरह के अद्वितीय कवि थे जिन्होंने गीत को उसकी स्वाभाविक प्रकृति को पहचान कर एक अभिनव पूर्णता और उत्कर्षता प्रदान की। सूर और मीरा भी संगीतात्मक को अपने गीतों में सँजाते हैं, पर विद्यापति की सहजता इनमें नहीं है। कारण विद्यापति की अद्‌भुत लोक जीवन सम्पृक्तता उन्हें अपने युग के अन्य गीतकारों से अलग करती है। विद्यापति अच्छे संगीतज्ञ प्रतीत होते हैं पर उन पर ग्वालियर घराने के प्राचीन संगीत का प्रभाव नहीं है जैसा सूर और मीरा पर जाने-अनजाने पड़ा है। इसी कारण विद्यापति के गीतिकाव्य में लय और तर्ज की मौलिकता तो है ही, एक अछूती भाव संदेहों को व्यक्त करने में समर्थ ग्राम्यता या नैसर्गिकता भी दिखाई पड़ती है। इसी कारण विद्यापति के गीत एक व्यापक जन-समाज के गले के कंठहार बन सके। इन गीतों में इतनी आत्मीयता और निकटता भरी है कि अनपढ़, गँवार व्यक्ति भी इनका पूरा प्रभाव ग्रहण कर लेता है।

'विद्यापति का श्रृंगार वर्णन' : संयोग श्रृंगार एवं वियोग श्रृंगार

विद्यापति का श्रृंगारत्व

विद्यापति के काव्य का प्रधान रस श्रृंगार है। उन्होंने श्रृंगार के दोनों पक्ष-संयोग तथा वियोग का निरूपण बहुत मार्मिक ढंग से अपने काव्य में किया है। उन्होंने संयोग श्रृंगार का चित्रण वियोग श्रृंगार की अपेक्षा ज्यादा किया है। ऐसा लगता है कि उनकी रुचि संयोग पक्ष के वर्णन में ज्यादा रमी है। वियोग पक्ष का वर्णन उन्होंने न्यून मात्रा में किया है पर वह भी मार्मिक है। विद्यापति की पदावली में श्रृंगार अपने चरम शिखर पर, पूर्ण परिपाक पर पहुंचा है, पर उसमें भी विद्यापति का नायिका-निरूपण प्रधान है।

श्रृंगार रस का स्थायी भाव रति है। प्रिय वस्तु में मन के प्रेम-प्रेरित होकर उन्मुख होने की भावना रति कहलाती है। श्रृंगार के स्थायी भाव के रूप में रति वह भावना, अनुभूति अथवा कामना है जिसके वशीभूत होकर नायक-नायिका शारीरिक अथवा इंद्रियसुख का उपभोग करना चाहते हैं। श्रृंगार रस में कामभाव अथवा मादनभाव प्रमुख होता है। उसका आलंबन विभाव नायिका है तो आश्रय नायक। एकांत स्थान, चांदनी रात, उपवन, नदी-तट, रूप-सौंदर्य उद्दीपन हैं, तो प्रेम से देखना, मुस्कराना, मधुर भाषण आदि अनुभाव हैं। इसमें हर्ष, लज्जा, ग्लानि, चिंता आदि संचारी भाव हैं। विद्यापति की पदावली में श्रृंगार रस का पूर्ण परिपाक हुआ है।

संयोग श्रृंगार

विद्यापति ने संयोग श्रृंगार के अंतर्गत रूप वर्णन में नखशिख वेषभूषा, आकृति, प्रकृति तथा सुकुमारता का वर्णन किया है। नख-शिख का संबंध अलौकिक आलंबनों से होता है एवं शिख-नख का लौकिक से। विद्यापति का दोनों तरह का वर्णन प्रशंसनीय है। वर्णन में कवि ने बिम्ब पेश किए हैं। कहीं उनका यह वर्णन उभरा है, अलंकृत है तो अन्यत्र सामान्य भी है। अलंकृत नख-शिख वर्णन में कवि ने चमत्कारपूर्ण बिम्ब पेश किए हैं। यथा-

पल्लवराज चरनजुग सोभित
गति गजरात क भाने।
कनक कदलि पर सिंह समारल
ता पर मेरू समाने।
मेरु उपर दुइ कमल फलायल
नाल बिना रुचि पाई।
मनिमय हार धार बहु सुरसरि

तओ नहीं कमल सुखाई।
अधर बिम्बसन, दसन दाड़िम बिजु
रवि सरि उगथिक पासे।
राहु दूर बस नियदो न आवथि
तैं नहि करथि गरासे॥

'उसके दोनों चरण कमल की भांति सुशोभित हैं, उसकी चाल गजराज का भी मान भंग करती है। आश्चर्य तो देख, स्वर्ण कदली पर सिंह सजाया गया है। उसके ऊपर सुमेरु शोभित है। सुमेरु पर दो कमल खिले हैं, जो नाल के बगैर ही शोभा पा रहे हैं। (स्वर्ण कदली के समान नायिका की जंघाएं हैं, जंघाओं के ऊपर सिंह के समान पतली कमर है, उस पर सुमेरु जैसा वक्षस्थल है। वक्षस्थल पर दोनों स्तन विराज रहे हैं। वे बिना नाल के कमल हैं।)' तुम कहोगे कि बगैर नाल के तो कमल सूख जाने चाहिए। सूखे कमल के समान स्तन हैं तो नायिका का रूपवती होना संभव नहीं। पर वास्तविकता यह है कि उस बाला ने जो मणिमय हार पहन रखा है, वह गंगा की धाराओं के समान है, गंगाजल से सिंचित होने से कमल विकसित हैं। उसके लाल-लाल ओठ बिंबफल के समान हैं, दांतों पर लाल अधरों की झलक पड़ रही है, अत: दांत दाड़िम के बीज जैसे आकर्षक हैं। चंद्रमा के समान उसका मुख है, उस पर लाल सिंदूर का तिलक लगा है, जिससे ऐसा आभासित होता है मानो सूर्य तथा चंद्र एक साथ उदित हुए हों। दोनों के साथ रहने से राहु के निकट आने का साहस नहीं होता, वह दूर ही रहता है, अत: न तो वह चंद्रमा को ग्रस पाता है न सूर्य को ? (बाला ने श्रृंगार किया है, अत: जूड़ा भी बंधा है।) काले बाल ही राहु हैं बाल बांध दिए गए हैं, अत: मुख-मंडल पर फेल नहीं पाते, पीछे ही रहते हैं।' इस पद में रति स्थायी भाव को जाग्रत करने हेतु किया गया आलंबन का रूप-विधान दृष्टव्य है। (डॉ.आनंदप्रकाश दीक्षित)

विद्यापति ने रूप-वर्णन के अंतर्गत रूपवती नायिका का बहुत सूक्ष्म व्यापारों से युक्त मार्मिक वर्णन किया है, यथा-

आध आंचर खसि आध बदन हसि
आधहि नयन तरंग।
आध उरज हेरि आध आंचर भरि
अब धरि दगधे अनंग॥

विद्यापति ने तीनों तरह के शास्त्रीय अलंकारों (अंगज, अयत्नज तथा स्वभाषण) को प्रयुक्त किया है। अंगज अलंकारी के अंतर्गत आने वाले हाव, भाव-हेला, अंग चेष्टाओं, दशाओं तथा बलवती काम चेष्टाओं से संबंध रखते हैं, विद्यापति इनके अंकन में बड़े कुशल हैं (डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित) यहां हम हाव-भाव के उदाहरण पदावली से पेश कर रहे हैं-

पथ गति पेखल मो राधा।
तखनुक भाव परान पए पीड़लि
रहल कुमुदनिधि साधा।

x x x

आध बदन ससि बिहसि दिखाओल
आध पीहलि निअ बाहू

x x x

कर-जुग पिहित पयोधन अचल।

हेला का उदाहरण-

जतने आएलि धनि सयन के सीम।
पांगुर लिखि खिति नतरहु गीम।

अयत्नज अलंकारों के वर्णन में भी कवि अत्यंत कुशल है। उसके नायिका के रूप वर्णन को सुनकर नायक में रूप दर्शन को आकुलता स्वत: जाग उठी है, यथा-

पीन पयोधर दूबरि गता।
मेरू उपजल कनक-लता।
ऐ कान्हु एक कान्हु तोरि दोहाई।
अति अपूरब देखिल साई॥
भनि विद्यापति दूति बचने।
एत सुनि कान्हु कएल गमने।

विद्यापति के श्रृंगार वर्णन में नायिका के रूप विकास की हर अवस्था का चित्रण मिलता है। नायिका की वय-संधि में यौवनागम तक की सभी स्थितियों के कई मासिक चित्र कवि ने अपने सूक्ष्म निरीक्षण तथा अनुभव से पेश किए हैं जो रस-परिपाक में सहायक हैं। वय:संधि से कवि ने शुरू किया है-

सैसव जोवन दुति मिलि गेल।
स्रवन के पथ दुहु लोचन लेल।

पुन: उरोजों के विकसित होने का वर्णन है-

किछु-किछु उतपति अंकुर मेल।

यौवनागम के स्वाभाविक कार्य व्यापार का वर्णन भी अत्यंत मार्मिक है-

उरहि अंचल झांपि चंचल
आध पयोधर हेरु,
नौर पराभव सरद-धन जनि,
बेकत कएल सुमेरु।

विद्यापति के श्रृंगार चित्रण की विशेषता का निरूपण करते हुए डॉ.आनंदप्रकाश दीक्षित ने लिखा है-"वे एक साथ नायक तथा नायिका के रूप का ऐसा चित्र पेश करते हैं कि उधर नायक प्रभावित होता है तो दूसरी तरफ नायिका। विद्यापति ने नायक तथा नायिका दोनों की रूप-माधुरी, मुद्रा-चेष्टा तथा कार्य व्यापार का एक साथ समान वर्णन करके अपनी मौलिकता का परिचय दिया है।" विद्यापति ने सम प्रेम का वर्णन किया है तथा संयोग-वियोग दोनों में नायक-नायिका को समान रूप से व्यग्र पीड़ित दिखाया है। विद्यापति ने नायक, नायिका, दूती आदि के विभिन्न तरह के वर्णन किए हैं। नायिकाओं के जाति, प्रकृति, धर्म, गुण, वण तथा परिस्थिति के अनुसार कई भेदों का कवि ने मार्मिक वर्णन किया है। विद्यापति का श्रृंगार वर्णन भाव प्रधान, अनुभूतिमय, सरस एवं सहृदय को रसमग्न करने वाला है।

वियोग पक्ष

विद्यापति की पदावली में हमें वियोग श्रृंगार का निरूपण भी मिलता है। कुछ विद्वानों का मत है कि विद्यापति संयोग श्रृंगार के चित्रण में ज्यादा सफल हैं तो अन्य विद्वान उन्हें वियोग वर्णन में ज्यादा निपुण मानते हैं। डॉ. मनोहर लाल गौड़ ने लिखा है, 'विद्यापति प्रमुखत: संयोग का कवि है। प्रेयसी के रूप सौन्दर्य, ललित चेष्टाओं तथा काम केलियों के वर्णन में वह अप्रतिम है, लेकिन वियोग वर्णन में उसे इतनी सफलता नहीं मिली है। वियोगिनी नायिकाएं अपनी मर्म व्यथाओं का

उद्‌घाटन कहीं भी नहीं करतीं, न बिहारी की भांति वे अतिशय क्षीण ही हुई हैं। उनकी उक्तियां छिछली लगती हैं। वे शारीरिक या तो स्मृति करती हैं अथवा उनकी लालसा में मरी जाती हैं। वियोग में जैसे अंतर्मुख होकर वियोगिनी को आत्म-निरीक्षण करना चाहिए, वह विद्यापति में नहीं है। कवि यहां आकर सूरदास से हेठा लगता है। सूरदास संयोग तथा वियोग दोनों के सफल चितेरे हैं। विद्यापति का विरह जो असफल रहा है, उससे तो अनुमान होता है कि वे शरीर के मांसल रूप तथा भोग के कवि हैं, हृदय की उदात्त अनुभूतियां उनके चिंतन के बाहर हैं। विरहिणी को कृष्ण का भेजा संदेश देखिए- '

सजनी कानुक कहब बुझाई।
रोपि प्रेम क बिजअंकुर मूड़लि, वांचब कौन उपाई।
ल बिन्दु जैसे पानि पसारिए,
ऐसन मार अनुराग
सिकता जल जैसे छनहि सुखए, तेंसन मोर सुहाग-आदि

दूसरी तरफ कुछ अन्य विद्वान विद्यापति को वियोग वर्णन में ज्यादा सफल मानते हैं। डॉ. आनंदप्रकाश दीक्षित ने लिखा है-"कवि विद्यापति ने भी राधा-कृष्ण के विरह-वर्णन में भाव विस्तार किया है। विद्यापति का वियोग-वर्णन संयोग-वर्णन की बजाय ज्यादा उत्कृष्ट तथा दिव्य है। संयोग में जो विलास-वासना थी वह वियोग की आंच में तप-गलकर उज्जवल भावलोक में जा पहुंची है, वहां भावयोग की तन्मयता तथा आत्मार्पण की निष्कामता है। विद्यापति के विरह-चित्रण में भाव तथा कल्पना का, अनुभूति एवं तन्मयता का ऐसा अद्‌भुत सामंजस्य है कि पाठक सहज ही सुध-बुध भूलकर तन्मय हो जाता है। भावों की विविधता, व्यग्रता, परिवर्तनशीलता, दीनता, अनुरोध, वेदना-निवेदन, प्रेम का घातक प्रहार तथा उससे पैदा पश्चात्ताप, उपालंभ, विवशता, याचना आदि इतने अनेक रूपी भाव अन्यत्र मिलना दुर्लभ है।" विद्यापति पदावली का प्रारंभ ही प्रेमी कृष्ण की राधा के प्रति उत्सुक मिलनाकुलता के वर्णन के साथ होता है-

नंद क नन्दन कदम्ब क तरुस्त
धिरे-धिरे मुरलि बजाव।
समय-संकेत-निकेतन बइसल
बेरि-बेरि बोलि पठाव॥
सामरि तोरा लागि
अनुखन बिकल मुरारि॥

पदावली का विरह प्रसंग बड़ा मार्मिक है। उसमें हृदय की अंतर्वृत्तियों की सहजता है।-

सखि हे कतहु न देखि मधाई
कांप सरीर थीर नहि मानस
अवधि नियर भेल आई।

इस विरह की चरमावस्था राधा के माधव-माधव रटते हुए माधव बन जाने में है-

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाई।
ओ निज भाव सुभावहि विसरल
अपने गुन लुबुधाई॥

बसंत, सावन-भादों आदि आ-आकर विरहिणी को और भी सताते हैं। उसके दु:ख को ओर-छोर नहीं है। डॉ.दीक्षित ने विद्यापति के विरह वर्णन की विशेषता का निरूपण करते हुए लिखा

है-"विरहिणी राधा मूक-साधिका है, वह चुप रहकर सब सहन करती है, अपने मुंह से कुछ नहीं कहती। विरह का संदेश तथा आत्म-निवेदन बहुत थोड़े समय तक रहता है। फिर सखी ही उसकी दशा का दर्शन कराती है। पीड़ा की अधिकता में अपने मुख से कुछ कह सकना संभव भी नहीं। जीवन के इस गंभीर तथ्य को विद्यापति भली तरह जानते थे, अत: राधा के मुंह से अपना रोना-धोना प्रकट करके उन्होंने विरह की गंभीरता को उथला-छिछल नहीं किया।" विद्यापति का विरह जायसी का सा ऊहात्मक है, अत: हास्यास्पद नहीं है। उसमें प्रेम की गंभीरता है।

निष्कर्ष-

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध हो जाता है कि विद्यापति संयोग श्रृंगार तथा वियोग श्रृंगार दोनों के चित्रण में सफल हैं। उन्हें दोनों क्षेत्रों में समान रूप से सफलता मिली है। संयोग में अंतवृत्तियों के चित्रण में उतनी गहराई नहीं रहती जितनी वियोग दशा में। विद्यापति का वियोग वर्णन अत्यंत मार्मिक है। हां, यह बात तथ्यपूर्ण है कि विद्यापति में संयोग श्रृंगार का जितना वर्णन हुआ है, उसकी अपेक्षा में वियोग श्रृंगार का वर्णन कम है। इस बात को लक्षित करके समीक्षकों ने विद्यापति को संयोग श्रृंगार का कवि घोषित किया है। वियोग-श्रृंगार के निरूपण में अंतवृत्तियों के उद्‌घाटन का ज्यादा अवकाश था, पर विद्यापति ने इस अवसर का उपयोग कम किया है। फिर भी यह तो स्पष्ट परिलक्षित होता है कि विद्यापति को संयोग तथा वियोग दोनों के निरूपण में समान सफलता मिली है।

कबीर के काव्य की विशेषताएं

कबीर के काव्य सृजन का उद्देश्य भव्य कविता करना नहीं वरन् अपनी अनुभूतियों का शब्दांकन करना था। वह मूलत: सन्त थे और उन्होंने आध्यात्मिक साधना हेतु ही वाणी का माध्यम ग्रहण किया। उनकी आध्यात्मिक साधना एक ओर तो अगोचर, अगम्य, परब्रह्म से साक्षात्कार को संकल्पित है व दूसरी ओर इसी आध्यात्मिक साधना ने अद्वेतवाद के व्यावहारिक रूप से समाज में व्याप्त कदाचार व कुरीतियों को समूल नष्ट करने का निश्चय किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है -'कबीर ने कभी काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनके आध्यात्मिक रस की नगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में रस इकट्‌ठा नहीं हुआ था।'

कबीर के काव्य में पौरुष सहज ही झलकता है। ऐसे हिन्दू कवि बिरले हैं, जो अपने संकल्प, अनुभूति के प्रति निष्ठा भाव रखते हों। कबीर हिन्दी काव्य के वह सूत्रधार थे जिन्होंने कविता को आम जिन्दगी का दर्पण बनाया तथा समाज और धर्म को अपने वर्ण्य विषय का केन्द्र बिन्दु चुना।

समीक्षा की दृष्टि से उनके काव्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - साखी, पद व रमैनी जिनका वर्ण्य विषय समाज ही है। युगदृष्टा कबीर के काव्य में वेदान्त, प्रेमसाधना, संसार की नश्वरता, माया की प्रबलता, हृदय की शुचिता, धार्मिक आडम्बरों का विरोध व साम्प्रदायिक एकता का प्रतिपादन रहा है। डा. रामकुमार वर्मा ने उनके काव्य सृजन के मन्तव्य को इस प्रकार उद्‌घाटित किया है - 'इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय प्राय: एक ही है - वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परिवर्तन कर वही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यह हैं - योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उतारने की रीति, नाम महिमा, सन्तों का वर्णन, सत्यरूप निरूपण, माया विषयक सिद्धान्त, गुरु महिमा, सत्संगति आदि। ये विषय वही हैं जिनके द्वारा घूम फिरकर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थलों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है।'

बौद्धिकता की प्रधानता – कबीर का काव्य असाधारण है। उनका समूचा जीवन सांसारिक वृत्तियों तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने में गया। उनका काव्य सायुक्त व मौलिकता से परिपूर्ण है। उन्होंने कविता लिखने के लिए मात्र शब्दों का चयन नहीं किया, बल्कि उन शब्दों का चिन्तन व मन्थन किया। तत्पश्चात् उसे अपने काव्य में प्रयुक्त किया। इस प्रकार उनका काव्य भावुकता से परे बुद्धि तत्व की प्रधानता लिए है।

भाव पक्ष – कबीर के साहित्य में रसानुभूति अद्‌भुत है। उपदेशात्मक सूक्तियां व हठ योग सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त उनका काव्य पूर्ण रससिक्त है। उनकी कविता में शान्त, अद्‌भुत व श्रृंगार रसों की त्रिवेणी मिलती है। अपने मानसिक विकारों से संघर्ष सम्बन्धी काव्य को वह शान्त रस से आप्लवित करते हैं। उनके काव्य में भावपक्ष भी ज्ञान तत्व की भांति विद्यमान है। आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्य का विषय बनाकर उसे सरलता व सहजता से लोकमात्र में प्रस्तुत कर कबीर ने सही अर्थों में काव्य की आत्मा को पहचाना है। उनके काव्य में भक्ति भावों की प्रचुरता है। उन्होंने आत्मा-परमात्मा समान अदृश्य पदार्थों को प्रतीक व उपयुक्त उपमानों के द्वारा सादृश्य के रूप में चित्रित किया है। आत्मा को प्रेयसी व परमात्मा को प्रेमी मानकर वह सरस काव्यवर्षण करते हैं।

कबीर ने संयोग व वियोग का सशक्त चित्रण कर अपनी पटुता का परिचय दिया है। उनके आध्यात्मिक संयोग व वियोग के चित्रों की तुलना में अन्य कवि सफलता के सोपान तक पहुंचने में असमर्थ रहे हैं। इस सन्दर्भ में एक विद्वान समीक्षक का मत प्रासंगिक है - 'कबीर की कविता में तो भावना नृत्य करती है और उसी से रस प्रवाह होता है। कबीर की रहस्यमयी कविताओं में जो रस की धारा बहती है, वह आत्मा की कामना और वासना के क्षेत्र से बाहर निकालकर निर्वाण के परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कराने में समर्थ होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके कवि स्वयं प्रेम रस का पान करता है और ब्रह्म के रंग में रंगकर मतवाला हो जाता है। कबीर की रचनाओं में इस रस की न जाने कितनी शीतल धाराएं बहती हुई मिलती हैं, जिनमें स्नान करके सहृदय पाठक जीवन की वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर सकता है।'

रसानुभूति – रस की दृष्टि से कबीर के काव्य में मुख्यत: तीन रसों यथा श्रृंगार, अद्‌भुत एवं शान्त का समावेश है किन्तु प्रधानता श्रृंगार की है। उनका भक्ति व आध्यात्मिक साहित्य प्रिय और प्रियतम की अटूट कड़ी है जो आत्मा परमात्मा की प्रतीक हैं। कबीर ने अपने काव्य का सृजन रस सिद्धान्त के अनुसार किया, काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार नहीं किया, फिर भी श्रृंगार उनके काव्य में प्रभावी रूप से उभरकर आया है।

(अ) **श्रृंगार रस** - कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से ब्रह्म का रहस्यवादी चित्रण किया है। उनके पदों में श्रृंगार के दोनों पक्षों, संयोग व वियोग का वर्णन समान रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

(ब) **अद्‌भुत रस** - स्थायी रूप से विस्मय जिन उक्तियों में विद्यमान होता है वे आश्चर्यानुभूति होती हैं। यह उलटबांसियां अधिकांश अद्‌भुत रस से अभिसिक्त हैं। उन्होंने अद्‌भुत रस में अलौकिक व अदृश्य का सजीव वर्णन कर इस रस को प्रचुरता से अपने काव्य में विस्तीर्ण किया है।

(स) **शान्त रस** - भक्ति भावना से प्रेरित कबीर की कविता में शान्त रस का प्राधान्य है। जीवन के विभिन्न आयामों को उजागर कर मानवीय संवेदनाओं की सहज प्रस्तुति में शान्त रस का वर्णन हुआ है। इस रस में उन्होंने, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, सत्य की अवधारणा का प्रतिपादन, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

अलंकार सौन्दर्य - कबीर के काव्य में अनायास ही बहुलता में अलंकारों का समावेश है। कबीर के काव्य में उपमा, रूपकों की तो प्रचुरता है ही, साथ ही अन्योक्ति, लोकोक्ति, सांगरूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार भी दृष्टव्य हैं। यमक, श्लेष, अनुप्रास अलंकारों की भी आवृत्ति उनके काव्य को सौन्दर्य प्रदान करती है।

कबीरदास ने अपने काव्य में अलंकारों का सहज ही प्रयोग किया है। काव्य प्रतिभासम्पन्न होने के उपरान्त भी कबीर के जीवन का लक्ष्य कविता करना नहीं, बल्कि इसके माध्यम से साधना, भक्ति भावना का प्रचार-प्रसार व सामाजिक कूप-मण्डूकता पर प्रहार करना रहा।

प्रतीक विधान - काव्य में सौन्दर्य की दृष्टि से प्रतीक योजना का अपना विशेष महत्व है। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ निशान, अंग, पता व अवयव है। प्रतीक के द्वारा जो मूलत: अप्रस्तुत है, हम प्रस्तुत के द्वारा उसके गुण-धर्म का स्मरण करते हैं। मानव जीवन प्रतीकों से आप्लावित है। कुच प्रतीक सार्वभौमिक होते हैं, जैसे श्वेत रंग पवित्रता का एवं सिंह पौरुष का प्रतीक है।

कबीर की अनुभूतियां आध्यात्मिक रंगों से सराबोर हैं। अपने विचारों को बोधगम्य बनाने के लिए उन्हें अधिक प्रतीकों का आलम्बन करना पड़ा है। प्रतीक शैली वस्तुत: कबीर-काव्य की प्रमुख शैली कही जा सकती है। उनके काव्य में कुछ प्रतीक तो विचित्र हैं जिनका प्रतीकात्मक अर्थ खोजना कठिन है। इन प्रतीकों का आद्यात्मिक अर्थ जाने बिना उनके काव्य को समझना सरल नहीं है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रतीकों के उदाहरण इस प्रकार हैं।

1. **दाम्पत्य प्रतीक -**

दुलहिनी गाबहुं मंगलाचार।

--- --- --- --- ---

लाली मेरे लाल की, जित देखौंतित लाल।
लाली देखनि में चली, मैं भी हो गयी लाल॥

2. **पारिभाषिक प्रतीक -**

गंगतीर मोरी खेती बारी, जमुनातीर खरिहाना।
सातों बिरवी मोरे वीपजैं, पांचू मोर किसाना॥

--- --- --- --- --- ---

आकासे मुख औधों कुवां, पाताले पनिहारि।
ताकां पाणि को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥

उलटबांसियां - कबीर के काव्य में उलटबांसी पद्धति उल्लेखनीय है। इनमें लोक-विपरीत बातें कही गई हैं। ऊपरी अर्थ बोध होने पर इन लोक विरुद्ध बातों की प्रस्तुति से श्रोता अथवा पाठक को आश्चर्य होता है। लेकिन इन प्रतीकों के आध्यात्मिक अर्थों का जब उद्घाटन होता है तब हमें यह असंगत अथवा विरोधमूलक प्रतीत नहीं होती। कबीर के काव्य में अलंकार प्रधान उलटबांसी, प्रतीक प्रधान उलटबांसी व अद्भुत रस प्रधान उलटबांसी के दिग्दर्शन मुख्यत: होते हैं।

छन्द - कबीर ने अपने काव्य में मुख्य रूप से मुक्तकों का ही प्रयोग किया है। उन्होंने छन्दों में दोहा, चौपाई का प्रयोग किया है। साखियां दोहा छन्द में हैं और रमैनी में कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा है। इसी क्रम में रमैनी का सृजन किया है।

भाषा - कबीर की भाषा में राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं का मिश्रण है। उनकी भाषा को साधुक्कड़ी भी कहा जाता है जिसमें बिना व्यतिक्रम के विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में डा. सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन उल्लेखनीय है -

'कबीर यद्यपि भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे, किन्तु तात्कालीन हिन्दुस्तानी कवियों की तरह उन्होंने ब्रजभाषा तथा कभी-कभी अवधी का भी प्रयोग किया। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप झलक आता है, किन्तु जब वे अपनी भोजपुरी बोली में लिखते हैं जो ब्रजभाषा तथा अन्य भाषाओं के तत्व प्राय: दिखाई पड़ते हैं।

आचार्य श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है। खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी, आदि अनेक भाषाओं का पुट उनकी उक्तियों पर चढ़ा है।'

विभिन्न विद्वानों की सम्मति से कबीर की भाषा के सम्बन्ध में यह विशेषताएं उभरकर आती हैं -

1. कबीर की बोली का प्रमुख आधार पूर्वी बोली (भोजपुरी व अवधी) है।
2. कबीर की भाषा पर खड़ी एवं ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव है।
3. कबीर की भाषा में राजस्थानी एवं पंजाबी भाषा के शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।
4. कबीर की भाषा साधुक्कड़ी मानी जाती है। जिसे पंचमेल खिचड़ी की संज्ञा दी जाती है। उसे किसी एक भाषा की परिधि में नहीं बांधा जा सकता।
5. उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा का रूप अधिकांशत: विषय व भाव के अनुकूल है।

साहित्य में स्थान - कबीर का प्रमुख ध्येय कविता कराना नहीं, वरन् अपनी आत्मानुभूतियों का प्रचार- प्रसार कर मानव को संयमित रास्ते का अनुसरण कराना था। भाषागत दोष होने के उपरांत भी कबीर का हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान है। इन्होंने पहली बार कविता को धरातल से जोड़ा व आम-आदमी एवं कविता का परस्पर तादात्म्य स्थापित किया। कबीर का साहित्य वस्तुत: उच्च नैतिक आदर्शों का प्रतिस्थापक है। उनका जीवन और काव्यादर्श समान रहे। वह समरसता व मानवता के पुजारी हैं। हिन्दी साहित्य में कबीर मात्र कवि न होकर एक लोकनायक के रूप में अवतरित हुए हैं जो समाज की सड़ी गली प्रथाओं का समूल नाश करके इस धरा को स्वर्ग बनाने का उद्यम करते हैं। निर्गुण भक्तिधारा के श्रेष्ठ कवि कबीर काव्य में आध्यात्मिक प्रभाव के प्रवर्तक हैं। उनकी वाणी में कला पक्ष का अभाव होते हुए भी भावगत सरलता है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कबीर हिन्दी जगत का वह व्यक्तित्व है जो समता, विश्वबन्धुत्व व सामाजिक न्याय का अनुयायी है।

कबीर का रहस्यवाद

रहस्यवाद का अभिप्राय- रहस्यवाद कवि की एक ऐसी साहित्यिक अभिव्यक्ति है जिसमें वह परम सत्ता के विषय में अपने विचारों को सीधी-सादी भाषा में प्रस्तुत न करके एक नई भाषा में अंकित करता है वह परमसत्ता को अपनी लेखनी का विषय बनाकर एक ऐसे अनंत संसार में पहुंच जाता है जहां सुख-दुख, आशा-निराशा, हास्य-रुदन, संयोग-वियोग, शोक-विषाद आदि भी समान हैं।

रहस्यवाद के प्रकार

मुख्यत: रहस्यवाद दो तरह का होता है- 1. साधनात्मक, 2. भावात्मक।

साधनात्मक रहस्यवाद में परमात्मा तक पहुंचने की प्रक्रिया का वर्णन किया जाता है तथा भावात्मक में आत्मा के विरह-मिलन के विविध प्रसंगों की सुंदर झांकी प्रस्तुत होती है।

कबीर का रहस्यवाद- हिन्दी साहित्य में कबीर अद्वितीय रहस्यवादी कवि माने जाते हैं। वे वेदांती थे। इसी कारण वे जीव तथा ब्रह्म की एकता के समर्थक थे। दूसरी तरफ वे सूफियों के प्रेम की पीर से भी प्रभावित थे। अत: उनके रहस्यवाद में अद्वैतवाद का माया तथा चिंतन व सूफियों का प्रेम भाव स्पष्टत: देखा जा सकता है। डॉ. रामकुमार वर्मा का कथन दर्शनीय है। कबीर का रहस्यवाद एक तरफ तो हिन्दुओं के अद्वैतवाद की क्रोड़ में पोषित है और दूसरी ओर मुसलमानों के सूफी-सिद्धांतों को स्पर्श करता है। इसका विशेष कारण यही है कि कबीर हिन्दू और मुसलमान

दोनों प्रकार के संतों के सत्संग में रहे तथा वह प्रारंभ से ही यह चाहते थे कि दोनों धर्म वाले आपस में दूध-पानी की तरह मिल जायें।

"इसी विचार से वशीभूत होकर उन्होंने दोनों मतों से संबंध रखते हुए अपने सिद्धांतों का निरूपण किया। रहस्यवाद में भी उन्होंने अद्वैतवाद तथा सूफीमत की 'गंगा-जमुना' साथ ही बहा दी।"

इसके अतिरिक्त कबीर पर हठयोग का प्रभाव भी स्पष्ट परिलक्षित होता है। हठयोगी साधन-पद्धति के आधार पर उन्होंने कुंडलिनी इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना, मूलधार आदि छः चक्रों, सहस्रार या हरन्ध्र आदि पर प्रकाश डाला है।

कबीर के रहस्यवाद के विविध रूप

कबीर के काव्य में साधनात्मक और भावात्मक दोनों प्रकार का रहस्यवाद दृष्टिगत होता है।

1. **साधनात्मक रहस्यवाद-** कबीर के साधनात्मक रहस्यवाद का विकास योगियों के नाथ संप्रदाय से हुआ है। अतः उन पर योगियों तथा हठयोग का प्रभाव स्पष्ट दिखाई पड़ता है। उनका मत है कि जब साधक की कुंडलिनी जाग्रत होकर सुषुम्ना के मार्ग से छहों चक्रों को पार करके ब्रह्मरंध में पहुंच जाती है तो एक अलौकिक आनंद की प्राप्ति होती है। यह आनंद मोक्ष का द्वार है। कबीर कहते हैं-

रस गगन गुफा में अजर झरै।
बिना बाजा झनकार उठै जहां, जहं समुझि परै।
जब ध्यान धरै।

कबीर के साधनात्मक रहस्यवाद पर भारतीय अद्वैत का भी प्रभाव है। उसे व्यक्त करने के लिए उन्होंने वेदांतियों की तरह मायावाद को भी स्वीकार किया है तथा विभिन्न दृष्टांतों से अद्वैत का प्रतिपादन किया है। शंकर के अद्वैतवाद का समर्थन करते हुए वे कहते हैं-

पाणी ही ते हिम भया, हिम व्है गया विलाई।
जो कुछ था सोई भया अब कछू कहा न जाई।

कबीर के रहस्यवाद में कहीं अनहद सुनाई पड़ता है तथा कहीं गगन घंटा का घहराना सुनाई पड़ता है। उन्होंने अपने साधनात्मक रहस्यवाद को भक्ति और प्रेम का पुट देकर सरस और मधुर भी बना दिया है। इस प्रकार स्पष्ट होता है कि कबीर का साधनात्मक रहस्यवाद नीरस और शुष्क न होकर सरस तथा मधुर है।

2. **भावात्मक रहस्यवाद-** कबीर में भावात्मक रहस्यवाद भी पाया जाता है। इसमें जीवात्मा अपने आधार से प्रेम करती है तथा उसके अभाव में विरह-व्यथा से दग्ध रहती है। इस पर सूफियों की प्रेम पद्धति का अभाव है पर कबीर ने इसे भारतीय रूप दे दिया है। उन्होंने साधक, जीव व आत्मा को प्रेमिका तथा पत्नी रूप में, ब्रह्म का प्रियतम रूप में चित्रित किया है। यथा-

दुलहिन गावहु मंगलचार।
हमारे घरि आए हो राजा राम भरतार।

अथवा

नैना अंतरि आव तू, ज्यू हौं नेन झैपेउं।
ना हौं देखूं और कू, ना तोहि देखन देउं॥

भावात्मक रहस्यवाद का मूलाधार प्रेम है। कवि ने प्रेम की विभिन्न स्थितियों का चित्रण किया। आत्मा परमात्मा को प्रतीक्षा करते-करते कह उठती है-

आंखड़ियाई झाई पड़ी, पंथ निहारि-निहारि।
जीभड़िया छाला पड़ा, राम पुकारि-पुकारि॥

प्रियतम के विरह में आत्मा बहुत दुःखी है। आठों पहर का यह कष्ठ उसे असह्य हो उठता है। इसलिए कहती है-

कै विरहनि कू मींच दे, कै आपा दिखलाई।
आठ पहर का दाझणा, मोपै सहा न जाइ॥

कबीर के हृदय में परमात्मा को खोजने की तीव्र अभिलाषा जाग उठी। अपनी स्थिति का वर्णन करते हुए वे कहते हैं-

परवति परवति में फिरया, नैन गंवाई रोइ।
सो बूंटी पाऊ नहीं, जाते-जीवनि होइ॥

अंत में आत्मा को अपने चिर प्रतीक्षित प्रियतम के दर्शन हो जाते हैं तथा वह कह उठती हैं-

बहुत दिनन में प्रीतम आए। भाग बड़े घरि बैठे आए॥

इस प्रकार भावात्मक रहस्यवाद में कवि ने आत्मा के कई भावों आशा-निराशा, हर्ष-विषाद, विरह-मिलन आदि के विविध चित्र प्रस्तुत किये हैं।

कबीर के रहस्यवाद की विशेषताएं

रहस्यवाद का विकास क्रम है-सीमा का असीम के प्रति कुतुहल, विस्मय, जिज्ञासा, तादात्म्य अनुभव, अनुराग, नम्रता, तन्मयता, विरह तथा मिलन। कबीर ने इन सभी स्थितियों का निर्वाह किया है। उनके रहस्यवाद की निम्न विशेषताएं हैं-

1. **जिज्ञासा की भावना-** कबीर निर्गुण तथा निराकार ब्रह्म के उपासक हैं। वैसे उनकी दृष्टि में न तो उनके इष्टदेव का कोई रूप है तथा न कोई आकार। फिर भी वह सर्वत्र विद्यमान है। कोई भी स्थान ऐसा नहीं है जहां उसका अस्तित्व न हो। कबीर की यह अस्तित्व बुद्धि ही अपने इष्टदेव के प्रति जिज्ञासा उत्पन्न करती है तथा इसी से वे यह जानना चाहते हैं कि वह ब्रह्म कैसा है? कहां है? और किस तरह अपनी क्रियाएं करता रहता है? वास्तव में कोई भी व्यक्ति इस मर्म को नहीं जानता है इसलिए कबीर बड़े बेचैन रहते हैं। उनका कहना है जब इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना आदि नाड़ियां ही नहीं हैं तो फिर समस्त गुण कहां समा जाते हैं?

2. **दर्शन एवं मिलन का प्रयत्न-** कबीर मानते हैं कि उनका प्रियतम निर्गुण एवं निराकार है, वह सर्वत्र विद्यमान होकर भी व्यक्त है फिर भी वह एक जिज्ञासु साधक की भांति उस ब्रह्म से मिलने के लिए अत्यंत व्यथित तथा बेचैन रहते हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार कोई वियोगिनी मार्ग के किनारे खड़ी होकर अपने प्रियतम के विषय में पंथिकों से पूछती है। उसी तरह कबीर भी अपने प्रियतम राम से बिछुड़ कर अपने गुरु से पूछते हैं कि मुझे मेरे प्रियतम का संदेश कुछ तो सुनाओ कि वे कब आकर मिलेंगे-

"विरहिनी अभी पंथ सिरि, पंथी बूझे जाइ।
एक सबद कहो पीव का, कबर मिलेंगे जाइ।"

3. **भौतिक विघ्न एवं वेदना की प्रवृत्ति-** कबीर ने अपने रहस्यवाद में साधनापथ के अनेक विघ्नों तथा कष्टों का भी उद्घाटन किया है। सबसे पहले कबीर ने उस ठगिनी माया का ही उल्लेख

किया है जो बड़ी मीठी है, जिसका छोड़ना कठिन है जो अज्ञानी पुरुष को बहका-बहका कर खाती रहती है-

"मीठी-मीठी माया तजी न जाई।
अग्यानी पुरुष को भोली-भाली खाई।"

फिर कहते हैं कि यह 'मोर तोर को जेवडी' है और यह इतनी विश्वास-घातनी है कि इसके आकर्षण के कारण भक्त भगवान का भजन नहीं कर पाता। यह ऐसी पापिनी है कि एक वैश्या की तरह संसार रूपी हाट में जीवों को फंसाने का फंदा लिए बैठी रहती है-

"कबीर माया पापिणी, फंद लैं बैठी हाटि।"

कबीर ने इस माया के दो रूप बताये हैं-'कंचन और कामिनी'। इन दोनों के रूप में यह जीवों को ठगती है जिसके कारण जीव जन्म-मरण के चक्कर में फंसकर संसार में भटकता रहता है।

4. **अथक एवं अगोचर सत्ता के दर्शन का आभास-** कबीर ने इस स्थिति का अत्यंत मनोहारी वर्णन किया है। कबीर कह रहे हैं कि मैंने बिना देह तथा आकार का ऐसा कौतुक देखा है तथा बिना कार्य और चंद्रमा के प्रकाश का दर्शन किया है-

"कौतुक दीठि देह बिन, रवि ससि बिना उजास।"

यह प्रकाश असीम एवं अनंत है, उसे देखकर ऐसा लगता है मानो सूर्य की सेना हो या अनेक सूर्य एक साथ उदित हो रहे हों-

"कबीर तेज अनंत का मानो अगी सूरज सेणि।"

इस तरह कबीर ने उस अव्यक्त एवं अगोचर सत्ता के दर्शन का बड़े प्रभावशाली ढंग से वर्णन किया है।

5. **सांसारिक ज्ञान एवं अपरोक्ष अनुभूति-** कबीर ने अपनी इस अपरोक्ष अनुभूति का अत्यंत मर्मस्पर्शी वर्णन किया है। कबीर कहते हैं कि जिस उत्कृष्टता तथा तीव्रता के साथ मन माया जन्म विषयों में रमता है उतनी ही उत्कृष्टता तथा तीव्रता के साथ मन राम में रम जाये तो वह साधक तारामंडल से भी परे वहां पहुंच जाता है। राम के गुण-गान करने के त्रिगुणात्मक माया का पाश कट जाता है। कबीर यह भी कहते हैं कि यहां पर राम नाम की लूट हो रही है जिससे जितना लूटा जाये लूट लो-

"लूटि सकै तौ लूटियो, राम नाम की लूटि।
पीछे ही पछिताहुगे, यह तन जैहे छूटि॥

कबीर की इस अनुभूति का मूलाधार प्रत्यक्ष जीवन है। कबीर ने "तू कहता कागद की लेखी, मैं कहता हूं आंखों की देखी" कहकर अपने अपरोक्ष अनुभूति की वास्तविकता को स्पष्ट कर दिया है।

6. **चिर-मिलन-** रहस्यवाद की अंतिम स्थिति आत्मा तथा परमात्मा का 'चिर मिलन' मानी गई है। कबीर ने बड़े ही ओजस्वी शब्दों में इस अंतिम स्थिति का भी उद्घाटन किया है। इस मिलन की अवस्था का रूपक बांधते हुए उन्होंने स्वयं को दुलहिन तथा राम को प्रियतम कहा है और विवाह होने पर जिस प्रकार पति-पत्नी मिलते हैं उसी प्रकार अत्यंत प्रेमपूर्वक आत्मा और परमात्मा का मिलन हो रहा है तथा जिस प्रकार एक पत्नी अपने पति के साथ एक शय्या पर शयन करती है उसी प्रकार आत्मा और परमात्मा एक होकर शयन कर रहे हैं-

बहुत दिनन थे प्रीतम पाए, भाग बड़े घर बैठे आए।
मंदिर मांहि भया उजियारा, लै सूती अपना पिय प्यारा॥

विवाह के उपरांत जैसे पत्नी अपने प्रियतम से मिलती है उसी प्रकार 'अंक भरे भर भेंठिया, मन में नाही धीर' कहकर कबीर ने उस दृश्य को प्रकट किया है। इस मिलन के उपरांत अनिर्वाचनीय आनंद की उपलब्धि होती है। इससे स्पष्ट है कि इस स्थिति में भगवान साधक और साध्य तथा जीव तथा ब्रह्म एक हो जाते हैं, दोनों का भेद मिट जाता है और पूर्ण अद्वैत की स्थापना हो जाती है।

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकलता है कि कबीर का रहस्यवाद हिन्दी साहित्य की अनुपम देन है। कबीर ने अपने रहस्यवाद के विविध रूपों का चित्रण किया है। प्रेम की तीव्रता, आध्यात्मिकता, जिज्ञासा, मिलन आदि अनेक विशेषताएं उनके रहस्यवाद में ही मिलती हैं। अत: हम कह सकते हैं कि शुद्ध रहस्यवाद उन्हीं का है। डॉ. "श्यामसुंदर दास" ने सत्य लिखा है- "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊंचा है। शुद्ध रहस्यवाद तो सिर्फ उन्हीं का है। प्रेमाख्यानक कवियों (जायसी आदि) का रहस्यवाद तो उनके प्रबंधक के बीच-बीच में बहुत जगह थिगली-सा लगता है और प्रबंध से अलगता अभिप्राय ही नष्ट हो जाता है।"

कबीरदास की दार्शनिक विचारधारा

1. **दर्शन का अर्थ-** दर्शन का अर्थ है-देखना। सृष्टि के सत्य को कवि जिस रूप में देखता है, उसे ही दर्शन या दार्शनिक विचारधारा की संज्ञा दी जाती है।

2. **काव्य और दर्शन का संबंध-** काव्य और दर्शन का परस्पर संबंध है। प्रत्येक सत् काव्य में दर्शन होता है। दर्शनहीन काव्य, काव्य नहीं हो सकता। इसलिए तो कवि को दृष्टा का जा सकता है। महाकवि रवीन्द्रनाथ टैगोर का मत है कि कोई भी व्यक्ति तब तक कवि नहीं हो सकता, जब तक कि वह दार्शनिक न हो।

3. **कबीर दर्शन पर विभिन्न मतों का प्रभाव-** डॉ. रामकुमार वर्मा ने अपने आलोचनात्मक इतिहास के निर्गुण संतों के काव्य की प्रवृत्तियों का अध्ययन करते हुए उन विभिन्न दर्शनों का प्रभाव दिखाया है। जो इस तरह हैं-1. सिद्धों का प्रभाव, 2. वाममार्गी शाखा, 3. नाथ, इस्लाम और सिद्धों का प्रभाव, 4. एकेश्वरवाद, 5. सूफी मन का प्रभाव, 6. वैष्णवों का प्रभाव, 7. भारतीय वेदांत का प्रभाव।

इन्हीं प्रवृत्तियों के प्रभाव के कारण संत काव्य की सामान्य विशेषताएं उन्होंने दिखाई हैं- 1. निर्गुण की उपासना। 2. अहंकार और त्याग। 3. रूढ़ियों का विरोध। 4. जाति-पांति का विरोध। 5. रहस्यवाद। 6. पारिभाषित शब्दावली का प्रयोग। 7. प्रेम तत्व (सूफी मत)। 8. भाषा (जनभाषा के शब्दों का ग्रहण करना)।

कबीर के ऊपर भी उपर्युक्त सभी दर्शनों का प्रभाव देखा जा सकता है तथा सभी प्रवृत्तियां उनके काव्य में उभरती हैं। उदाहरणार्थ-

(क) **भारतीय अद्वैत और वेदांत का प्रभाव-** उपनिषद् में ब्रह्म के विषय में कहा गया है। वह शब्द रहित, स्पर्श रहित, रूप रहित, रस रहित और गंध रहित है। कबीर भी यही कहते हैं-

"नीति सरूप वरण नहीं, जाके घटि-घटि रह्यो समाई।
पॉड ब्रह्माण्ड कथै सब कोई, वाकै आदि अरूप अरु अंत न होई॥"

(ख) **सूफी संप्रदाय अथवा प्रेम तत्व-** डॉ. सरनामसिंह ने लिखा है-जो लोग यह कहते हैं कि कबीर ने सूफी प्रेम साधना से कुछ नहीं लिया, वे हाथी को देखकर भी उसके अस्तित्व का निषेध

करते हैं। ऐसी बात है नहीं कि कबीर ने परमात्मा के सिर्फ प्रिय (पति) रूप को ही अंगीकार किया था अपितु, माता, पिता, गुरु, स्वामी आदि अनेक रूपों में भी उन्होंने चित्रित किया है। सूफी संप्रदाय में इन सब रूप को स्वीकार करने की स्वतंत्रता नहीं है। सूफियों के लिए परमात्मा माशूक है, आत्मा आशिक है तथा कबीर के दांपत्य संबंध में हरि 'पीव' है और वे उनकी बहुरिया हैं। 'पीव और बहुरिया' के पीछे भारतीय दांपत्य जीवन की जो व्यंजना है, उसमें सूफी मान्यता का भी पुट है।

"मेरी बहुरिया को धनिआ नाऊ।
लै राखियो रम जनिआ नाऊ॥"

यही नहीं कबीर ने भी सूफीमत की तरह पीड़ा को ही प्रेम का साधन माना है-

"आंखनिया झांई पढ़ी पीव निहारि निहार।
जभड़ियां छाला पड़या पीव पुकार पुकार॥"

(ग) **वैष्णव मत का प्रभाव-** कबीर पर वैष्णव संप्रदाय का प्रभाव दिखाते हुए डॉ. त्रिगुणांयत ने लिखा है-"कबीर में वैष्णवों के सत का सभी सारभूत तत्व विद्यमान है। अत: यह कहना है कि उनमें वैष्णवों के केवल प्रपति तथा अहिंसा तत्व ही मिलते हैं, अधिक उपयुक्त नहीं है। निर्गुण राम का उपासक होने के कारण उन्हें वैष्णव न मानना, उस महात्मा के साथ अन्याय करना है।"

कबीर में वैष्णवी दया, करुणा, परपीड़ानुभूति इत्यादि के कई उदाहरण मिलते हैं। वे 'अहिंसा परमोधर्म' के समर्थक हैं। वे भक्ति को महत्व देते हैं, पर उसकी साधना की कठिनता का भी उन्हें ज्ञान है-

"भगति दुबारा सांकरा, राई दसवें भाई।
मन तो मंगल होई रहा, क्यूं करि सके समाई॥"

वैष्णव भक्त को वे सर्वोच्च पद प्रदान करते हैं-

"कबीर धनी ते सुंदरी, जिनि जाया बैसनो पूत।
राम सुमिरि निरभै हुआ सब जग गया अऊत।"

(घ) **बौद्ध संप्रदाय का प्रभाव-** बौद्ध प्रवृत्ति भी कबीर में पाई जाती है। बौद्ध साहित्य में और बौद्ध वर्णन में जिस तरह की क्षणभंगुरता पर निराशा व्यक्त की गई है-कबीर में यह प्रवृत्ति बहुत अधिक है। उदाहरणार्थ-

"पानी केरा बुदबुदा, अस मानस की जात।
देखते ही छिप जाएगा, जस तारा प्रभात।"

(ड.) **सिद्धों और नाथों का प्रभाव-** कबीर ने योग्य साधना, षडचक्र, इड़ा, पिंगला, सुषुम्ना आदि का वर्णन सिद्धों तथा योगियों के प्रभाव से किया है-

"सुरति सर्माणी निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खुले स्वयं दुबार।"

4. **कबीर के काव्य में उनकी दार्शनिक विचारधारा की अभिव्यक्ति-** कबीर ने भी तत्कालीन परिवेश तथा परिस्थितियों को दृष्टि में रखकर ब्रह्म और जगत् तथा इन दोनों के बीच माया आदि पर अपने विचार प्रकट किए हैं। मोक्ष आदि पर भी कबीर ने कुछ न कुछ कहा है। इसी को दृष्टि में रखकर उनकी विचारधारा को संक्षेप में इस तरह प्रस्तुत किया जा सकता है-

(क) **कबीर के ब्रह्म संबंधी विचार-** कबीर ने कहा कि हमारा ध्यान निर्गुण तथा सगुण से परे है-

"निर्गुण सगुण ते परै तहां हमारा ध्यान।"

अब यह निर्गुण सगुण से परे क्या हो सकता है? निश्चित रूप से हमें बीच की स्थिति का पता लगाना कठिन है। कबीर ने इस संबंध में कुछ विचार प्रकट किए हैं-

"जाके मुख माथा नहीं, नाहि रूप कुरूप।
पुहुप बास ते पातरा ऐसा तत्व अनूप।"

(ख) **कबीर के माया संबंधी विचार-** अन्य संतों की तरह कबीर ने भी माया को जीवन और ब्रह्म, साधक और साध्य के बीच की सबसे बाधक शक्ति माना है, उदाहरणार्थ-

"कबीर माया मोहनी, जैसे मीठी खांड।
सतगुरु की कृपा भई, नहीं करती भांड॥"

X X X

माया महा ठगिनी हम जानी।
तिरगुन फांस लिए कर डोलै मधुरी बानी॥

इसलिए कबीर इस माया से हमेशा बचते रहे। ज्ञान की आंधी का आह्वान उन्हें स्वीकार हुआ-

"संतों ! आई ज्ञान की आंधी।
भ्रम की टाटी सवै उढ़ानी माया रहे न बांधी॥"

(ग) **जगत संबंधी कबीर के विचार-** कबीर ने भी जगत को मिथ्या ही माना है, पर इतना नहीं जितना अद्वैतवादी मानते हैं, कबीर का माध्यम सूफियों का माध्यम है, जो इसी जगत के बीच होकर ऊपर ब्रह्म तक पहुंचने की बात करते हैं। शंकराचार्य की तरह कबीर जगत् का त्याग करने की बात नहीं करते। वे तो कहते हैं कि इस जगत् तथा इस सत्ता के बीच इस माया बंधन को हटा दो और अपने आपको पहचानो। यद्यपि संसार के विषय से उन्होंने बड़ी निराशा व्यक्त की है-

"यौ ऐसा संसार जैसा सेंबल फूल।
दिन दस के त्यौहार को झूठे रंगि न भूल॥"

पर इसमें जो भाव है वह अस्तित्वहीनता का भाव है, उनको छोड़कर कहीं अकर्मण्य होने का भाव नहीं है। जो ऐसा सोचते हैं वे कबीर को समझते ही नहीं।

(घ) **जीवात्मा संबंधी विचार-** कबीर ने जीवात्मा को ईश्वर का अंश माना है और उस अंश को कबीर उस ब्रह्म में जोड़ने का प्रयास करते रहे हैं। अत: उन्होंने हठयोग का भी सहारा लिया है-

"कह कबीर इहु राम को अंसु, जस कागद पर मिटै न मंसु।"

(ड.) **मोक्ष विचार-** कबीर भी मोक्ष का वही कारण मानते हैं, जो अन्य संत मत में आता है, अर्थात् माया की पहचान और उसका निराकरण जीव और ब्रह्म को एक साथ मिला देता है-

"जैसे जलहि तरंग तरंगनी, ऐसे हम दिखलावेंगे।
कहै कबीर रबामी सुखसागर, हंसहि हंस मिलावेंगे॥"

5. **उपसंहार-** उपयुक्त विवेचन के आधार पर कहा जा सकता है कि कबीर में दर्शन का वैष्णव पक्ष ही अपने रूप में अधिक निखरा है हालांकि उन पर अन्य विचारधाराओं के भी प्रभाव हैं। आचार्य परशुराम चतुर्वेदी के शब्दों में-ये यथार्थत: न तो निर्गुणवादी हैं और न सगुणवादी ही। उनके अनुसार वह परम तत्व निर्गुण और सगुण दोनों से परे की वस्तु है और अनुभव में आने पर भी अनिर्वचनीय है।" डॉ. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना और भी अधिक सराहना करते हैं- 'कबीर ने अपने दार्शनिक विचारों को अत्यंत सरल तथा सीधी-साधी भाषा में जनता के सामने प्रस्तुत किया है, इसी कारण कबीर के विचारों की ओर शिक्षित वर्ग उतना आकृष्ट नहीं होता, जितना कि अशिक्षित एवं

अल्पशिक्षित वर्ग आकृष्ट होता है। कबीर के इन विचारों में जनसाधारण के हृदय तक पहुंचने की अपूर्व क्षमता है, क्योंकि कबीर ने दर्शन गूढ़तिगूढ़ सिद्धांतों एवं विचारों को अत्यंत सरल एवं सुबोध बनाकर जनता के सामने रखा है। रात-दिन व्यवहार में जाने वाले पदार्थों के उदाहरण द्वारा उन्हें समझने की चेष्टा की है।

कबीर प्रकृति से क्रान्तिकारी, स्वभाव से समाज-सुधारक और अनुभूति के कवि

कबीर का युग विभिन्न धार्मिक पाखण्डता व मानवीय शोषण का पर्याय रहा। मत-मतान्तरों व सम्प्रदायों में आपसी कटुता तीव्र थी। कूपमण्डूकता का साम्राज्य था। जीवन के हर क्षेत्र में अन्धकार रूपी अन्धविश्वास का परचम फहरा रहा था। ऐसे संक्रमण काल में कबीर ने युग चेतना का संवाहक होने के नाते कवि धर्म का शाश्वत निर्वाह किया व सामाजिक अन्याय की प्रवृत्तियों पर तीव्र प्रहार किया। कबीर ने अपने समय के सभी मतों के सापेक्षिक सिद्धान्तों को आत्मसात कर कुरीतियों व मानवीय संवेदनाओं के विपरीत मान्यताओं पर जमकर प्रहार किये। सन्त कवि व फक्कड़पन में आत्मलीन कबीर ने तत्कालीन समय की विसंगतियों के विरुद्ध विद्रोह कर स्वर मुखरित किया जिसकी प्रतिध्वनि साहित्य में सहज रूप से विद्यमान है।

धार्मिक पाखण्ड का खण्डन – उनका युग धार्मिक प्रभाव की प्रधानता का युग था। स्वार्थी, लोभी, कामी, सन्यासी-यती वेशधारी जनता की धार्मिक भावनाओं के साथ खिलवाड़ कर अपनी उदरपूर्ति कर रहे थे। भक्ति वस्तुतः ढोंग का पर्याय बन गयी थी। तथाकथित धर्माचारों से आम जनता दुखी थी, लेकिन उनकी वेदना को मुखरित करने वाला कोई नहीं था। ऐसे समय में कबीर ने पाखण्ड को ललकारा -

नगन फिरत जो पाइये जोग, बन का मिरग मुकति सब होग।
क्या नांगे क्या बांधे चाम, जब नहिं चिन्हसि आतम राम।

उन्होंने सन्ध्या प्रातः स्नान को भी ढोंग की संज्ञा दी जो मात्र स्नान करके ही भक्ति का आवरण ओढ़े हैं -

संध्या प्रातः स्नान कराहीं, यो भये दादुर पानी माहीं।

शाक्तों, चार्वाकों एवं जैन तथा बौद्ध धर्मावलम्बियों की तथाकथित अहिंसा पर उन्होंने तीखा व्यंग्य किया है -

जैन बोध अरू साकत सैनां, चारवाक चतुरंग बिहूंना।
दोना भरवा चम्पक फूला, तामैं आजीव बसै कर तूला।

हिन्दू मुस्लिम पाखण्ड का विरोध – हिन्दू - मुस्लिमों में व्याप्त पाखण्ड का कबीर ने अपने काव्य में तीखा विरोध किया है। दोनों धर्मावलम्बी जब अपनी-अपनी आत्म स्तुति करते हैं व अपने को श्रेष्ठ ठहराने का प्रयास करते हैं तब कबीरदास दोनों धर्मावलम्बियों को फटकारते हैं -

हिन्दू अपनी करै बड़ाई, गागर छुवन न देई।
वैश्या के पायन तर लोटे, यह देखो हिन्दुआई।

X – X – X

मुसलमान को पीर औलिया, मुर्गा-मुर्गी खाई।
खाला केरी बेटी ब्याहैं, घर में ही करें सगाई।

उनका अभिमत था कि दोनों धर्मों में कई कमिया हैं। नैतिकता व पवित्रता से झूठे मानदण्ड स्थापित किए गए हैं। वास्तविक जीवन में धर्म के सिद्धान्तों से इनका कोई लेना-देना नहीं है। धर्म निरपेक्षता के प्रतीक कबीर ने मन्दिर - मस्जिद विवाद को ढकोसला बताया व दोनों धर्मों की वास्तविकता को इस प्रकार उल्लेखित किया-

इनके काजी मुलां पीर पैगम्बर, रोजा पछिम निवाजा।
इनके पूरब दिसा देव दिज पूजा, ग्यारसि गंग रिवाजा।

X – X – X

तुरक मसीति देहुरै हिन्दु, दहुअँ राम खुदाई।
जहां मसीति देहुरा नाहीं, तहां काकी ठकुराई।

कबीर भारत के पहले कवि हैं जिन्होंने मुस्लिम कट्टरपंथियों की परवाह न कर उनकी तथाकथित परम्पराओं का मजाक उड़ाया। सुन्नत (खतना) के सन्दर्भ में यह उदाहरण दृष्टव्य है-

हौं तो तुरक किया करि सुनति, औरति सौं का कहिये।
अरध सरीरी नारि न छुटै, आधा हिन्दू रहिये॥

ऊंच-नीच, जाति पांति का विरोध – उनका काल सामाजिक शोषण व अन्याय का था। ब्राह्मण वर्ग अपनी नैतिकता को त्यागकर भी श्रेष्ठ बना हुआ था। वह जन्म के आधार पर श्रेष्ठता-निम्नता के हामी नहीं थे, बल्कि कर्म के सिद्धान्तों के अनुयायी थे। तथाकथित जन्मजात मानसिकता पर उन्होंने इस प्रकार प्रहार कर समाज सुधार के पथ को संकट मुक्त किया।

ऊंचे कुल का जनमिया, करनी ऊंच न होई।
सुबरन कलस सुरा भरा, साधू निन्दै सोई॥

कबीर का ब्राह्मण ब्रह्म का ज्ञाता व नैतिकता, सदाचारों से परिपूर्ण है। वह जन्मना के आधार पर नहीं, कर्मणा के आधार पर ब्राह्मण के अस्तित्व को स्वीकारते हैं -

कहु कबीर जो ब्रह्म विचारै, सो ब्राह्मण कहियत है हमारै।

--- --- --- --- ---

हमारे कैसे लोहू तुम्हारे कैसे दूर, तुम कैसे बामन पांडे हम कैसे सूद।

अहिंसा का संदेश - कबीर ने हिंसावृत्ति त्यागने व अहिंसा का सन्देश दिया। उनका मानना था कि जीव मात्र की हत्या से ईश्वर की प्राप्ति नहीं हो सकती। यह अमानवीयता है और इसे बर्दाश्त नहीं किया जाना चाहिए। यह हिंसा हिन्दू-मुसलमानों में व्यापक रूप से व्याप्त थी। इसी प्रकार उन्होंने पशु बलि (कुर्बानी) की निंदा की -

दिन में रोजा रखत हैं, रात हनत हैं गाय।
वह तो खून यहु बन्दिगी, कैसी खुशी खुदाय।

गौ - हत्या को उन्होंने मातृ-हत्या की संज्ञा दी है -

काफिल गरब करें अधिकाई, स्वारथ अरथि बंधे ए गाई।
जाकौ दूध धाई करि पीवै, ता माता कौ बध क्यूं कीजै॥

मूर्ति पूजा का खण्डन - उस युग में मूर्ति पूजा अपनी सार्थकता खो चुकी थी। आक्रामक मुस्लिमों ने सबके सामने ही मूर्तियों का भंजन किया, लेकिन ईश्वर रूपी यह मूर्तियां चुपचाप अपना मृत्यु का वरण करती रहीं। मूर्ति पूजा के नाम पर पंडितों, पुजारियों ने आम जनता को अपने शोषण का शिकार बना लिया था। कबीर की मूर्ति पूजा विरोधी अवधारणा सैद्धान्तिकता से परे व्यावहारिक थी। उन्होंने सरल शब्दों में इसकी अनुपयोगिता पर प्रकाश डाला -

दुनिया ऐसी बाबरी, पाथर पूजन जाइ।
घर की चकिया कोई न पूजै जैही का पीसा खाइ॥

अवतारवाद और पुस्तकीय ज्ञान का खण्डन - कबीरदास ने अवतारवाद व पुस्तकीय ज्ञान का प्रभावी रूप से खण्डन कर उसे दिशाभ्रमित करने वाला बताया। उनका मानना था कि पुस्तकीय ज्ञान से परे प्रेम की भाषा ही हमारे कल्याण का पथ प्रशस्त करती है। पुस्तकीय ज्ञान से ही मनुष्य विद्वान नहीं हो जाता -

पौथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोय।
ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय॥

अवतारवाद का भी उन्होंने इस प्रकार विरोध किया -

तुम जो कहत हो नन्द को नन्द, नन्द सुनंदन का कोरे।
धरनि अकास दसौंदिसि नाहीं, तब इहु नन्द कहा थोरे॥

आर्थिक समता का प्रतिपादन - कबीर ने आर्थिक समता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। वह मानते थे कि निर्धन को कदम कदम पर धनवानों का अपमान सहना पड़ता है व उसका आर्थिक शोषण होता है। उस युग की आर्थिक विषमता का सजीव चित्रण कर उन्होंने युग चेतना के प्रहरी के दायित्व का सजगता के साथ निर्वाह किया -

निर्धन आदर कोइ न देई, लाख जतन करे औहु चिन्त न धरेई।
कहैं कबीर निर्धन है सोई, जाकें हिरदै नाम न होई।

अत: कबीर की कविता मुखापेक्षी बात न होकर स्पष्ट कंठ से की गयी धार्मिक और सामाजिक विवेचना थी। वह सत्यान्वेषी तथा बुद्धि विवेक निर्णय के पक्षधर थे। वह अन्य कवियों की भांति कल्पना लोक में मात्र विचरण नहीं करते थे, वरन् कोटि-कोटि जनता जो पाखण्ड व ऊंच-नीच व शोषित का जीवन जी रही थी, उसे सामाजिक समता का पथ दिखाया।

इस प्रकार कबीर प्रकृति से क्रान्तिकारी, स्वभाव से समाज-सुधारक व अनुभूति से कवि थे। उन्होंने अपने काव्य में अपने व्यक्तित्व व कृतित्व को आत्मसात कर काव्य सृजन किया। निःसन्देह उनका समाज सुधारक स्वरूप उनके कवि को महानता के शिखर पर आरूढ़ करता है। इनका सम्पूर्ण जीवन पीड़ित मानवता के दुख दर्द को व्यक्त करने में व्यतीत हुआ। कबीर पीड़ितों की वाणी थे, इसीलिए उनके काव्य में मुखरता, खरापन व विचारों की प्रखरता है।

कबीर की भाषा शैली एवं विशेषतायें

कबीर की भाषा के निर्णय का प्रश्न पर्याप्त विवादास्पद रहा है। इसका कारण कबीर के प्रामाणिक काव्य का संग्रह अभाव ही है। अलग-अलग विद्वानों ने कबीर की भाषा के सम्बन्ध में इसी कारण अपने-अपने मन से निर्णय दिया है। किसी ने उसे अवधी, किसी ने भोजपुरी, किसी ने सधुक्कड़ी, किसी ने राजस्थानी तथा किसी ने अनेक भाषाओं के मेल से बनी पंचमेल खिचड़ी और किसी ने ब्रजभाषा कहा है। त्यों कबीर ने इस विवाद को यह कहकर और बढ़ावा दिया है।

बोली हमारी पूरवी, हमें लखै नहिं कोय।
हम को तो सोई लखै, धुर पूरब को होय॥

भाषा विषयक विभिन्न मत

कबीर की भाषा के सम्बन्ध में विभिन्न मत जो विद्वानों ने व्यक्त किये हैं, ये हैं।

1. *'उसकी (साखी की) भाषा सधुक्कड़ी है अर्थात् राजस्थानी, पंजाबी मिली खड़ी बोली है, पर 'रणैणी" और 'सबद' में काव्य की ब्रजभाषा और कहीं-कहीं पूरबी बोली का भी व्यवहार है।* **— आचार्य रामचन्द्र शुक्ल**

2. *'कबीर की बोली पूरबी ही अधिक होनी चाहिए क्योंकि उन्होंने कहा भी है, किन्तु डा. रामकुमार वर्मा ने अपने इस मत में सुधार किया और हिन्दी साहित्य के आलोचनात्मक इतिहास में यह लिखा है - 'कबीर ने अपनी भाषा पूरबी लिखी है, परन्तु नागरी प्रचारिणी सभा ने कबीर ग्रन्थावली का जो प्रमाणिक संस्करण प्रकाशित किया है, उसमें पूरबीपन किसी प्रकार भी नहीं है।"* **डा. – रामकुमार वर्मा**

3. 'कबीर की भाषा पंचमेल खिचड़ी है।' डा. श्यामसुन्दर दास

मिश्रित भाषा - उपर्युक्त विद्वानों के मतों को देखने से पता चलता है कि कबीर की भाषा में किसी भी एक भाषा को महत्व नहीं मिला है। उसमें अनेक भाषाओं का मिश्रण है। उसमें एक और तो अंषलियां, जीभाड़ियां-कसाइयां, दुखढ़ियां और रातड़ियां जैसे पंजाबी शब्दों का प्रयोग मिलता है दूसरी और विसूरणां, रोवण, सजणां, जांणि, छांणि, सताणी व रैणा आदि राजस्थानी बोली के शब्द भी पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं। इसी प्रकार कबीर की भाषा में लैटयो, घेटयौ, पकरयौ, चल्यौ आदि प्रयोग ब्रजभाषा के मिलते हैं। इसके साथ ही कहीं जाऊंगा, आऊंगा, लागा, भागा, मिलाऊंगा, चित लाऊंगा, धागा टूटा आदि शुद्ध खड़ी बोली के शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। अवधी के प्रयोगों से भी कबीर की भाषा अछूती भाषा की धरोहर है। इतना ही नहीं पीर, मुरीद, काजी, दरवेश, मुल्ला, कुरान, खुदाई, खालिक, दरोगा, हाजिरां, अकलि, अलह, पाक और नापाक आदि अरबी, फारसी के शब्द भी कबीर में पूरी तरह मिलते हैं। इससे यही प्रमाणित होता है कि कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं और बोलियों का मिश्रण है। इसी से डा. द्वारिकाप्रसाद सक्सेना का यह मत ठीक ही प्रतीत होता है कि कबीर की भाषा में बंगला, बिहारी मैथिली, भोजपुरी, अवधी, ब्रज खड़ी बोली, राजस्थानी, पंजाबी, गुजराती, सिन्धी, लंहदा, अरबी-फारसी आदि सभी बोलियों को चढ़ाकर पकाया हुआ 'सधुक्कड़ - अन्नकूट' विद्यमान है। वह सर्वत्र स्वतन्त्र है। उसमें लिंग, वचन, कारक आदि किसी प्रकार का बन्धन नहीं है और न उसके शब्दों को छील-छीलकर या किसी एक भाषा के सांचे में ढालकर ही सुन्दर सुडौल बनाया गया है।

कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं के मिश्रण के कारण निम्न हैं -

1. कबीर घुमक्कड़ी वृत्ति के संत थे।
2. घुमक्कड़ी वृत्ति के कारण ही स्थान-स्थान पर जाने वाले कबीर अपने प्रवचनों और दृष्टिकोण की संप्रेषणीयता के लिए वहीं की भाषा को अपना लेते थे।
3. कबीर की वाणी वह वाणी है जिसे हरेक धर्मावलम्बी, हरेक भाषा का जानकार अपना सकता है। यही कबीर चाहते भी थे। अत: उनकी भाषा में विविध भाषाओं का मिश्रण मिलता है।
4. समय, स्थान और अधिकारी पात्र के अनुकूल बोलने के कारण कबीर की भाषा में विविधता के दर्शन होते हैं।
5. कबीर की भाषा में विविध भाषाओं की शब्दावली के मिश्रण का एक कारण यह भी हो सकता है कि वे भाषा को 'संस्करित जैसे कूपजल' से निकाल कर बहुत नीर की तरह प्रचारित करना चाहते थे। एक शब्द में वे जनता के सामने एक लोक भाषा का प्रचार करना चाहते थे।
6. कबीर के शिष्य विभिन्न स्थानों और प्रदेशों में फैले हुए थे। अत: यों भी भाषा मिश्रण सम्भव था।

यही कारण है जिनकी वजह से कबीर की वाणी में भाषागत एकरूपता नहीं मिलती है। इतने पर भी यह स्पष्ट ही है कि कबीर की भाषा में सादगी और सरलता है। वह सहज विश्वसनीय भाषा है जिसमें आडंबरहीनता और अनअलंकृति को प्रमुख स्थान प्राप्त है। डा. हजारीप्रसाद द्विवेदी ने कबीर की सांकेतिक और प्रतीकात्मक वर्णन प्रणाली को देखकर उनकी भाषा की गणना 'सांध्य भाषा' की परम्परा में की है, किन्तु इसके ठीक विपरीत डा. सरनाम सिंह शर्मा का मत है कि 'कबीर की भाषा के प्रवर्तकों (सिद्धों) का जो लक्ष्य था, उससे कबीर का लक्ष्य सर्वथा भिन्न था, जबकि पहले लोग भोली-भाली जनता को भ्रान्ति में डालना चाहते थे, कबीर उसे शान्ति के पथ पर ले जाना चाहते थे। सिद्धों की भाषा गुमराह करने वाली थी और कबीर की भाषा राह दिखाने वाली थी।' वस्तुत: कबीर की भाषा एक सहज प्रवाहशील भाषा है जो ऊबड़-खाबड़ रास्तों में भी अपनी राह बनाती हुई निरन्तर आगे बढ़ती गई है।

भाषा की विशेषताएं

कबीर की भाषा में विविध भाषाओं के शब्दों का संयोजन देखकर उसकी कतिपय सामान्य विशेषताएं निरूपित की जा सकती हैं। डा. गोविन्द त्रिगुणायत ने कबीर ग्रन्थावली और 'संत कबीर' नामक कबीर के दो संग्रहों के आधार पर कबीर की भाषा की निम्नांकित प्रवृत्तियां बतलाई हैं -

1. कबीर की भाषा में पंजाबीपन अधिक है। इसका कारण हज्ज करने जाते समय उन्हें पंजाब से गुजरना पड़ा था। इसी से उसमें पंजाबीपन आ गया है।

2. कबीर की भाषा में भोजपुरी का भी पुट मिलता है। डा. रामकुमार वर्मा ने कबीर की भाषा में पाई जाने वाली संज्ञा के लध्वन्त और दीर्घान्त दोनों रूपों के बहुत से उदाहरण उद्धृत किये हैं। यथा खंभवा, पहराना, मानवा, खटलवा। इतना ही नहीं उन्होंने भोजपुरी के अतीत काल की क्रिया के 'अल' या 'अले' प्रत्यय के भी अनेक उदाहरण दिये हैं-

1. जुलहै तनि बुनि पार न पावल।

2. त्रिगुण रहित फल रमि हम राखल।

3. पंजाबी और भोजपुरी के अतिरिक्त कबीर की ऐसी अनेक उक्तियां हैं जो खड़ी बोली का सुन्दर उदाहरण कही जा सकती हैं -

भारी कहूं तो बहु डरूं, हल्का कहूं तो झूठ॥
मैं का जानों राम कूं, नैनौं कबहुं न दीठ॥

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल का अनुमान है कि 'सन्तों की खड़ी बोली की परम्परा सिद्धों से मिली है। जिस प्रकार सिद्धों के उपदेश की भाषा टकसाली हिन्दी है, उसी प्रकार सन्तों के उपदेश की भाषा खड़ी बोली है।'

4. कबीर की भाषा की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसका रूप अधिकतर विषय, व्यक्ति और भाव के अनुकूल है। वे जब जिस तरह के व्यक्ति या मत के सम्बन्ध में अपनी राय देते थे तब तदनुकूल भाषा का ही प्रयोग करते थे यही कारण है कि हिन्दुओं, पण्डितों और वैष्णवों को सम्बोधित करते समय उनकी भाषा शुद्ध हिन्दी होती थी। यथा -

निरवैरी निहकामता, साई सेती नेह।
विषिया सूंन्यारा रहै, सतनि का अग एह॥

उधर मुलमानों को समझाते समय उनकी भाषा में उर्दूपन अधिक आ जाता था। उदाहरणार्थ ये पंक्तियां देखिये -

मीयां तुम्हसी बोल्यों वाणी नहिं आव।
हम मसकीन खुदाई बन्दे, तुम्हारा जस मनि भावै॥

अल्लाह अवलि दीन का साहिब जारे नहिं फरमाया ।।
मुरसिद पीर तुम्हारै है को, कहौ कहां थै आया ।।

5. कबीर की भाषा में विविध प्रान्तीय भाषाओं का मिश्रण है । बंगला, मैथिली, राजस्थानी, आदि सभी प्रान्तों की प्रभावात्मक शब्दावली कबीर की वाणी में मिलती है ।

6. कबीर की भाषा सीधी, सरल और सादी होकर भी संकेतात्मक, प्रतीकात्मक व पारिभाषिक शब्दों के प्रयोग के कारण दुरूह हो गई है, किन्तु उसका पारिभाषिक शब्द का अर्थ अमल में आते ही वह सरल और सहज ग्राह्य प्रतीत होने लगती है ।

7. कबीर की भाषा में अधिकांश शब्दों के विकृत रूप प्रयुक्त हुए हैं । अत: अनेक बार उनके वास्तविक स्वरूप का पता लगाना कठिन हो जाता है । निम्नांकित पद में शब्दों की तोड़-मरोड़ एवं विकृति देखी जा सकती है -

रे दिल खोजि दिलहर खोजि, ना परि परेसानी मांहि ।
महल माल अजीज औरति, कोई दस्तगीरी क्यूं नाहिं ।।
पीरां मुरीदां कजियां, मुलो अरू दरवेश ।
कहां थे तुम किनि कीये अकलि है सब नेस ।।
कुरानां कतेबां अस पढ़ि-पढ़ि फिकरी या नहीं जाई ।
टुक दुम करारी जै करै, हाजिरां सूर खुदाई ।।

निष्कर्ष - निष्कर्षत: यह कहा जा सकता है कि कबीर की भाषा में अनेक भाषाओं का मिश्रण है । वह एक व्यावहारिक भाषा है । उसमें तीखी भाव-व्यंजना, मार्मिकता और प्रेषणीयता तो है ही, अव्यवस्थित होकर भी वह गतिशील है । उसमें विषयानुकूलता और प्रसंगानुकूलता को विशेष महत्व प्राप्त है । कबीर की भाषा में अनेक शैलियों का विधान है । अत: वह अत्यन्त शक्तिशाली हो गई है । इन्हीं सब कारणों से कबीर को आचार्य द्विवेदी ने भाषा का 'डिक्टेटर' कहा है । यह ठीक भी है क्योंकि वह मर्म प्रहारक शब्दावली से युक्त है, व्यंग्यात्मकता के कारण उसमें एक गति है, उसमें स्वेच्छानुकूल अभिव्यक्ति का अपूर्व गुण है । कबीर की भाषा ओजस्विता और तेजस्विता से पूर्ण है । उसमें उक्ति-वैचित्र्य और अर्थ-सौष्ठव पूर्णत: देखा जा सकता है ।

कबीर की भक्ति भावना का महत्व

भक्ति का महत्व

कबीर का कथन है कि माया के पास में पड़े हुए जीव का उद्धार केवल भगवद् भक्ति से ही हो सकता है । भक्ति के बिना माया जनित संशय का दु:ख दूर नहीं हो सकता और न मुक्ति ही मिल सकती है । **"भाव भगति बिसवान बिन, कटै न संसै मूल ।**
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुक्ति नहीं रे भूल ।

भाव- भगति के बिना भव- सागर से पार जाना असम्भव है :

'जब लगि भाव- भगति नहीं करिहौं ।
तब लग भौ सागर क्यों तरिहौं ।।"

कबीर भाव भगति को कर्म, योग और ज्ञान से श्रेष्ठ मानते हैं । उनके विचार से हरि- दर्शन ही एक मात्र महत्वपूर्ण है । राम का जप न करने वाले टेढ़े- मेढ़े चलते हैं । बहुत से ज्ञानी राम-भक्ति न करने से डूब गये :

"कहे कबीर जिहि राम न चेत्यो बूढ़े बहुत सयाने ।"

और भी - **"क्या जप था क्या संजम, क्या व्रत क्या अस्नान।**
जब लग मुक्ति न जानिए, भाव- भगति भगवान।"

कबीर में भक्ति के सभी रूप

कबीर में नवधा- भक्ति और नारदीय- भक्ति के समस्त रूप मिलते हैं। 'नारद सूत्र' में भक्ति के ग्यारह रूप माने गये हैं। नारद को वैसे कबीर ने भक्ति शिरोमणि कहा है, किन्तु कबीर की भाव- भक्ति प्रणाली इससे भिन्न है।

कबीर में नवद्या भक्ति का रूप-

श्रवण **"सती पुकारे सति चढ़ों, सुनि रे मीत मसान।**
लोग बटाऊ चलि गये, हम तुम रहे मसान।"

कीर्तन **"ज्यों- ज्यों हरि गुन सांभल, त्यों- त्यों लागे तीर।"**

स्मरण **"मेरा मन सुमिरै राम कूं, मेरा मन रामहि आहि।"**

बन्दर **"जब मन राम का ही हो गया, तो सीस किसे नवाऊं।"**

पद सेवन **"मन के मोहन बीठुला, यह मन लागी तोहि।**
चरन कंवल मन मानियां, और न भावै सोहि।"

अर्चना **"मांहै पाती मांहि जल, मांहै पूजनहार।"**

दास्य **"गले राम की जेबड़ी, जित खैंचे तित जाऊं।"**

सरल **"अंक भरे भरि भेटियां, मन में नांही धीर।**
कहै कबीर ते क्यूं मिले, जब लग दोइ सरीर।"

आत्म- निवेदन -

इस दशा में अभेद् भाव की स्थिति बनी रहने के कारण सुध- बुध भूल जाती है। ऐसी रसानुभूति की स्थिति आ जाती है कि :

"भलि भई जु भै पड़या, गई दसा सब भूल।
पाला गलि पांणी भया, ढुलि मिलिया उस कूल॥"

बूंद समुद्र में विलीन हो जाती है और फिर न उसका और न उसके ढूंढने वाले का ही पता लगता है और अन्त में मन ही मन यही कहना पड़ता है :

"मेरा मुझ में कुछ नहीं जो कुछ है सो तोर।
तेरा तुझको सोंपता, क्या लागै है मोर॥"

नारद- सूक्त में वर्णित ग्यारह आसक्तियां -

कबीर में नारद- सूक्त में वर्णित ग्यारह आसक्तियों के उदाहरण मिल जाते हैं। प्रत्येक के उदाहरण निम्नलिखित हैं :

गुण महात्म्यसक्ति- **"निरमल राम नाम गुन गावै, सो मगता मेरे मन भावै।"**

रूपासक्ति- **"कन्द्रप कोटि जाके लावन धरै। घट- घट भीतर मनसा हरै॥"**

पूजासक्ति - **"जो पूजा हरि नाहि भावै, सा पूजन हार चढ़ावै।**
जेहि पूजा हरि मन भावै, सो पूजन हार न जावै॥"

स्मरणसक्ति- "भगति- भजन हरि नांव है, दूजा दुःख अपार।
मनसा, बाचा, कर्मणा, कबीर सुमिरण सार॥"

दास्यासक्ति- "जो सुख प्रभु गोविन्द की सेवा।
सो सुख राज ना लहियै॥"

कान्ता सक्ति- "हरि मेरा पीव मैं राम की बहुरिया।"

वात्सल्यासक्ति- "हरि जननी मैं बालक तोरा।"

तन्मयासक्ति- "कह कबीर हरि दरस दिखावौ।
हमहि बुलावौ कै तुम आवौ।"

पूर्ण विरहासक्ति- "बाल्हा आव हमारे गेह रे।
तुम गिन दुखिया देह रे।
सब कोई कहै तुम्हारी नारी मोको इहै सन्देह रे॥
एक मन है सेज न सौवे, तब लग कैसा नेह रे॥"

आत्म- निवेदनासक्ति- "माधो मैं ऐसा अपराधी, तेरी भगति हेत नहीं साधी।
कारन कबन आइ जग जनम्यो, जननि कबन सचु पायो॥"

कबीर ब्रह्म को निर्गुण मानते हुए सगुणोपासक-

कबीर निर्गुण- निराकार के उपासक थे, परन्तु निर्गुण- निराकार का केवल ध्यान ही किया जा सकता है। न तो उसमें प्रेम किया जा सकता है और न सेवा ही की जा सकती है। इसलिए कबीर को भी विवश होकर ब्रह्म के व्यक्त या सगुण रूप को अपनाना पड़ा। कबीर ने अनेक स्थलों पर इसी सगुण- भक्ति की सेवा, उपासना की चर्चा पर कहीं- कहीं अवतारों का भी उल्लेख किया है :

"भजि नारदादि सुखदि बंदित चरन पंकट भामिनी।

और भी - "ओहि पुरुष देवाधि देव। भगति हेत नरसिंह भेव॥"

शरणागत की भावना-

कबीर में शरणागत की भावना पूर्ण रूप से मिलती है, जो कि भक्ति का प्राण है। कहीं वे अपने को राम का गुलाम कहते हैं और कहीं राम के चरणों की धूल कहते हैं। कबीर के इस आत्म-निवेदन में तुलसी एवं सूर की गहरी तन्मयता मिलती है :

"माधव कब करिहौ हो दाया।
का, क्रोध, अहंकार न व्यापे छूटै माया॥"

भक्ति के साधनों में कबीर ने गुरु- सेवा, भगवद् कृपा, नाम, जप, स्मरण, कीर्तनादि तथा सत्संग आदि सबको महत्व दिया है।

कबीर की साखियाँ, उनकी विचारधारा और भावधारा

साखी शब्द संस्कृत 'साक्षी' शब्द का अपभ्रंश है और साक्षी का अर्थ है-'गवाही' अर्थात् जो कुछ स्वयं देखता या अनुभव किया उसे सच्चाई और ईमानदारी के साथ प्रस्तुत कर देना ही

साक्षी कहा जाता है। इस आधार पर कबीर की 'साखी' का तात्पर्य भी उनके साक्षात् या प्रत्यक्ष अथवा यथार्थ ज्ञान से लगाया जा सकता है।

साधारण रूप से 'साखी' से अभिप्राय महापुरुषों के आप्त वचनों से लिया गया है। नीति-काव्य के रचयिताओं ने नीति की बातें कहते समय 'साखी' का ही प्रयोग किया है। कबीर की साखियों में कबीर की विचारधारा और भावधारा का ही वर्णन है। उन्होंने 'साखी' को 'ज्ञान की आंख' कहा है-

साखी आँखी ज्ञान की, समुझि देख मन माँहि।
बिन साखी संसार का झगरा छूटत नाहि।

अर्थात् जब हम अज्ञान के अंधकार में भटकते हुए ज्ञान के प्रकाश की अपेक्षा करते हैं, तब 'साखी' द्वारा हमको वह ज्ञान प्राप्त होता है।

कबीर ने साखी के महत्व की चर्चा स्थान-स्थान पर की है। वे यह मानते हैं कि साखियाँ उन्हें आनंद प्रदान करती हैं।

पद गायें मन हरषिया, साषी कहयां आनंद।

अत: पदों की अपेक्षा साखियाँ अधिक महत्वपूर्ण हैं। कबीर साखी कहने का उद्देश्य भी स्पष्ट करते हैं-

हरिजी यहे बिचारिये, साषी कहौ कबी,
भौं सागर में जीव है, जे कोई पकड़ै तीर॥

स्पष्ट है कि साखियाँ मानव मात्र को संसार के बंधनों से मुक्त करके आवागमन के चक्कर से छुड़ाने वाली हैं। साथ ही कबीर ने यह भी घोषित कर दिया है कि जो व्यक्ति 'साखी' तो कहता है, परंतु साखी को ग्रहण नहीं करता अथवा उसके अनुकूल आचरण नहीं करता, वह मोह रूपी नदी के जल में बहता रहता है और उसके पैर तक नहीं टिकते अर्थात् वह मोह से निकल नहीं पाता।

साखी कहैं गहैं नहीं, चाल चली नहिं जाय।
सलिल मोह नदिया बहै, पाँव नहीं ठहराय॥

इस प्रकार साखियों में कबीर ने प्रामाणिक एवं प्रत्यक्ष अनुभव से संबंधित उन विचारों को रखा है जिनके अनुकूल आचरण करने से मानव-मात्र का कल्याण हो सकता है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी का मत है कि प्रामाणिकता की दृष्टि से साखियों का महत्व सर्वाधिक है। कुछ रमैनियाँ ऐसी होती हैं जिनके अंत में एक-एक साखी उद्धृत की गई हैं। साखी अद्भुत करने का अर्थ ही यह होता है कि कोई दूसरा आदमी मानो इस रमैनी को लिख रहा है और इस रमैनी की व्याख्या के प्रमाण में कबीर की साखी को गवाही के रूप में पेश कर हा है।

साखी की परंपरा- 'साखी' परंपरा अत्यंत प्राचीन है। श्वेतांबर उपनिषद में 'साखी' शब्द का प्रयोग परमसत्ता के अर्थ में हुआ है। यथा-

एकोदेवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साखी चेता केवलो निर्गुणश्च॥

'साखी' का प्रयोग परवर्ती काव्यकारों के अनुसार साक्षी या प्रत्यक्ष दृष्टा या प्रामाणिक ज्ञान है।

'साखी' का प्रयोग नीति काव्य में बहुत हुआ है। नीति काव्य के रचयिताओं ने नीति की बातें करते समय 'साखी' का ही प्रयोग किया है। यह साखी अपभ्रंश काल से प्रचलित है। संत काव्य में तो इसका बोलबाला ही है।

साखियों का महत्व- संतों का मत है कि साखी के बिना संसार का झगड़ा समाप्त नहीं होता है। अत: संसार में भटके मानव को सही मार्ग दिखाने का माध्यम ही साखी है। डॉ. रामकुमार वर्मा ने स्पष्ट किया है कि ('साखी' का अर्थ प्रत्यक्ष ज्ञान मानते हुए) वह प्रत्यक्ष ज्ञान गुरु शिष्य को प्रदान करता है। संत संप्रदाय में अनुभव जन्य ज्ञान की महत्ता है, शास्त्रीय ज्ञान की नहीं। इस प्रकार सत्य की साक्षी देता हुआ ही गुरु जीवन के तत्व ज्ञान की शिक्षा शिष्य को देता है। संक्षेप में तत्व ज्ञान की शिक्षा जितनी प्रभावपूर्ण होती है, उतनी ही स्मरणीय है। इसी कारण संत संप्रदाय में 'साखी' इतनी अधिक मात्रा में है।

यह भी कहा जा सकता है कि कबीर के समय में ही उनके शिष्य उनके प्रामाणिक कथनों को साखी के रूप में जनता के सम्मुख संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत करते थे। आगे चलकर वे 'साखियाँ' गुरु के सिद्धांत वाक्य के रूप में गृहीत हुई हैं।

साखियाँ कबीर की विचारधारा की प्रतिनिधि- नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित 'कबीर ग्रंथावली' में कबीर की साखियों की संख्या 809 है। ये साखियाँ 59 अंगों में विभाजित हैं। इनमें कबीर ने अपने निवृत्तिमूलक तथा प्रवृत्तिमूलक दोनों ही प्रकार के विचारों का प्रतिपादन किया है। कबीर की साखियाँ साधना और सामान्य लोक जीवन दोनों से संबंधित हैं। लौकिक आचरण संबंधी अंगों में से 'चेतावनी को अंग' विशेष रूप से महत्वपूर्ण है।

साखियों में कबीर का संपूर्ण प्रतिपादन उपलब्ध होता है। यदि केवल कबीर की साखियाँ ही उपलब्ध होतीं तब भी कबीर के द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों ब्रह्म निरूपण, रहस्यवाद, गुरु-महिमा, ज्ञान-महिमा, बाह्याडम्बर की निरर्थकता, हठयोग साधना, माया-जीव का निरूपण आदि का पूर्ण प्रतिपादन हो जाता और हमको कबीर की वाणी में किसी प्रकार की अपूर्णता का अनुभव न होता।

कबीर की साखियों में वर्णित भाव

1. **सदाचार और शुद्धाचरण-** कबीर ने अपनी साखियों के माध्यम से मानव को सदाचार और शुद्धाचरण की शिक्षा दी है। वे अहंकार शून्य मधुर वाणी की ओर ध्यान खींचते हैं-

ऐसी वाणी बोलिए, मन का आपा खोइ।
अपना तन सीतल करै, औरों को सुख होई।

संगति- संगति साधु की जाय, मूर्ख की नहीं, वे यह तथ्य तर्क सहित प्रस्तुत करते हैं-

मूरखि संग न कीजिए, लोहा जालि न तिराइ।
कदली सीप भुजंग मुख, एक बूँद तिहुँ भाइ॥

साधु संगति की महिमा की ओर संकेत करते हुए वे कहते हैं-

कबीरा संगति साधु की, कंदन निरफल होइ।
चंदन होसी बाँवना, नींव न कहसी कोई।

कबीर मन शुद्धि की ओर भी संकेत करते हैं, जो मन को वश में रख पाता है वह स्वयं करतार हो जाता है-

मन गोरख मन गौविदौं मन ही औधड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तो आपै करता होइ॥

2. **गुरु-महिमा-** कबीर ने गुरु को बहुत महत्व प्रदान किया है, गुरु की महत्ता उन्होंने नाना प्रकार से गायी है-

सतगुरु की महिमा अनत, अनत किया उपकार।
लोचन अनत उघाड़िया, अनत दिखाणहार।

3. **नाम महिमा-** कबीर ने भगवन्नाम को वेदों-पुराणों का सार बताया है। नाम-स्मरण के द्वारा साधक अपने प्रभु के निकट पहुँच जाता है-

चिंता तो हरि नाम की, और न चिंता दास।
जे कुछ चितवै राम बिनु, लोह काल की पास॥

4. **विरह की महिमा-** कबीर प्रेम की पूर्णता के लिए विरह को महत्वपूर्ण मानते हैं। विरह ही आत्मा को परमात्मा से मिलने के लिए प्रेरित करता है-

विरह भुवंगम तन बसे, मंत्र न लागै कोइ।
राम वियोगी ना जिवै, त बोरा होइ॥

5. **संसार की नश्वरता-** कबीर संसार को नश्वर मानते हैं साथ ही क्षण-भंगुर भी। कबीर मनुष्य को बार-बार चेतावनी देते हैं कि वह क्षण-भंगुर संसार के क्षणिक विषयों को छोड़कर भगवान का स्मरण करे-

यह ऐसा संसार है जैसा सेवल फूल।
दिन दस के व्यौहार को झूठे रंग न भूल।

6. **माया पाप की जड़ है-** कबीर ने माया को समस्त अनर्थ एवं दुःख का मूल माना है और उसको पापिनी, ठगिनी, डायन कहा है-

कबीर गुण की बाढ़ली, तीतर बानो छाँहि।
बाहिर रहते ऊबरे, भागे मंदिर माँहि॥

7. **ब्रह्म स्वरूप विचार-** ब्रह्म स्वरूप विचार एवं ब्रह्म निरूपण को लेकर कबीर ने कई साखियाँ लिखी हैं-

आदि मध्य अरू अंत लों, अविहड़ सदा अभंग।
कबीर उस करतार को, सेवक तजै न संग।

8. **बाह्याचार खंडन-** कबीर ने बाह्याचार का खंडन पर्याप्त मात्रा में किया है। उन्होंने हिन्दू, मुसलमान दोनों को फटकारा है-

दुनिया ऐसी बाबरी, पाथर पूजन जाइ।
घर की चकिया कोईन पूजै, जेहि का पीसा खाई।

9. **प्रेमानुभूति-** कबीर की प्रेमानुभूति रहस्यवाद की ही झलक है-

सपने में साईं मिले सोबत लिया जगाय।
आंख न खोलूं डरपता मत सपना ह्वै जाय॥

10. **दार्शनिकता-** कबीर की साखियों में दार्शनिकता का रंग भी चढ़ा हुआ है। इसी कारण कबीर ने छोटे-छोटे दोहों में ब्रह्म और जीव की अद्वैतता, जगत और ब्रह्म का अभेद तथा माया के द्वारा ब्रह्म और जीव एवं ब्रह्म एवं जगत की भिन्नता आदि का प्रतिपादन बड़े ही सुंदर एवं सजीव ढंग से किया है। कबीर की ये साखियाँ वेदांत के अद्वैतवाद की पोषक हैं। इसलिए इनमें संसार का मिथ्याभाव, माया का प्रपंच, साधक की विरहानुभूति, हठयोग की साधना, ब्रह्मानंद की प्राप्ति आदि का निरूपण किया गया है। हठयोग की स्थिति का एक चित्र देखिए-

आकासे मुखि औंधा कुआ, पाताले पनिहारि।
ताका पाँणी को हंसा पीवे, विरला आदि विचारि॥

इसी प्रकार आत्मा-परमात्मा के मिलन को कबीर ने बड़े ही रोचक ढंग से समझाते हुए बताया है कि-

सूरित समांणी निरति में, अजता माँहैं जाय।
लेख समांणां अलेख में, यूँ आपा माँहै आप॥

काव्यात्मकता- कबीर की साखियाँ, अधिकतर दोहा छंद में ही मिलती हैं, पर कतिपय साखियाँ चौपाई, श्याम उल्लास, हरिपद, गीता सार तथा छप्पय छंद में भी मिलती हैं। साथ ही इनमें उच्चकोटि के काव्य के भी दर्शन होते हैं। 'विरहिणी कौ अंग', विप्रलंभ श्रृंगार की दृष्टि से अत्यंत उत्कृष्ट है, जहाँ कबीर ने विरहानुभूति का मर्मस्पर्शी निरूपण किया है। इसी प्रकार 'पतिव्रता कौ अंग' भी रहस्य भावना की दृष्टि से उच्च कोटि के कवित्व का उदाहरण है। इतने छोटे छंद में उक्ति-वैचित्र्य, भाव-गांभीर्य एवं अर्थ सौष्ठव का चमत्कार दिखाया है। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना के अनुसार-सभी साखियाँ जीवन के भावात्मक एवं कल्पनात्मक विवेचन से परिपूर्ण है, इनमें सच्ची अनुभूति के साथ-साथ काव्य-प्रतिभा का कौशल भी विद्यमान है तथा साखियाँ उच्च कोटि के व्यंग्य से परिपूर्ण होने के कारण हृदय पर सीधी चोट करती हैं।

उपसंहार- कबीर ने अपनी साखियों में अनुभवजन्य ज्ञान का निरूपण किया है और मानव-समाज को सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा प्रदान की है। यही कारण है कि विद्वानों ने कबीर की साखियों को उनकी चिंतन पद्धति एवं भाव-धारा का प्रतिनिधि माना है। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना के अनुसार-कबीर की साखियाँ वैयक्तिक अनुभूतियों का भंडार हैं, प्रगल्भता एवं प्रभविष्णुता में बेजोड़ हैं; सहज स्वाभाविक सौंदर्य से ओतप्रोत हैं, अत्यंत साधित हैं तथा ज्ञान और भक्ति, नैतिकता और व्यावहारिकता, दार्शनिकता और भावुकता, आध्यात्मिकता और लौकिकता का समुच्चय है। साथ ही इनके द्वारा जहाँ समता तथा सहज प्रेम की भावनाएं जाग्रत की गई हैं। जिनसे विश्व-बंधुत्व की भावना को बल मिला है, ये साखियाँ व्यक्ति को आत्मनिरीक्षण की ओर भी उन्मुख करती हैं। शुद्धाचरण करने के लिए बाध्य करती हैं, संतोष, उदारता, परोपकार, सेवा आदि को अपनाने का आग्रह करती हैं, अनासक्तिपूर्ण कर्मों द्वारा मुक्ति प्राप्त करने की प्रेरणा देती हैं तथा दुष्कर्मों के परित्याग एवं सत्कर्मों के अपनाने की भावना जाग्रत करती हुई मानव मात्र में आध्यात्मिकता, नम्रता, ईश्वर-विश्वास, सच्चरित्रता, सामाजिक एकता, भगवद् भक्ति आदि का संचार करती हैं। इसलिए कबीर की साखियाँ वाणी के अद्‌भुत सौंदर्य से ओतप्रोत हैं और इनमें कबीर का सर्वजयी व्यक्तित्व विद्यमान है।

जायसी के पद्‌मावत में लोक तत्व

पद्‌मावत लोकजीवन का आख्यान

जायसी के पद्‌मावत में लोकपक्ष को पर्याप्त स्थान मिला है। एक तरफ उन्होंने इसमें मुहावरे और कहावतों के प्रयोग से लोकभाषा को संवारा है तो दूसरी तरफ लोकजीवन की अभिव्यक्ति करके भी लोकजीवन का काव्य कहलाने का अधिकारी बना दिया है। 'पद्‌मावत का शब्द कोष उसमें प्रयुक्त लोकोक्तियां, कहावतें, मुहावरे तथा सूक्तियां आदि भी सामूहिक रूप से 16वीं शताब्दी में प्रचलित बोलचाल की अवधि तत्कालीन लोकभाषा का वास्तविक रूप प्रकट करती हैं।"

जायसी के पद्‌मावत में लोकपक्ष की तस्वीर है। लोकजीवन को विविध रंगों में प्रस्तुत करने वाली यह तस्वीर बड़ी साफ और चमकती हुई है। लोकजीवन की अभिव्यक्ति पद्‌मावत में निम्नलिखित रूपों में देखी जा सकती है-

1. लोकजीवन से संबद्ध वर्णन।
2. विरह वर्णन में लोक चेतना का स्पर्श।

3. लोकजीवन से गृहीत प्रेम कहानी में लोककथाओं का समावेश

4. लोकजीवन में प्रचलित उपमानों का सन्निवेश।

(1) जहां तक लोकजीवन से संबंधित वर्णन का प्रश्न है जायसी ने वस्तु वर्णन के विधान में लोकजीवन की स्पष्ट छवियां अंकित की हैं। पद्मावत में लोकजीवन के पर्व, त्यौहार, पनघट चित्र, विवाह चित्र सखियों का हास-परिहास, बालक्रीड़ाएं, सरोवर स्नान के लिए देव की मनौती आदि का समुचित समावेश किया गया है। पनघट का वर्णन बड़ा मधुर है। इस वर्णन के अनुसार पनिहारिनें पद्मिनी जाने घस होती थीं। वे समूहों में या पंक्तिबद्ध होकर आया करती थीं। जायसी रूह है-

पानि भरइ आवहिं पनिहारी। रूप-सुरूप पदुमनी नारी॥

X X X

आवहिं झुंड-झुंड सो पाती। गवन सोह सो भांतिहि भांती॥

विवाह प्रसंग में जायसी ने विवाहादि की तैयारी का जो वर्णन किया है, वह भाविक रूप से ग्रामीण जीवन की परयाद दिलाता है-

साजा राजा बाजन बाजे। मदनसहाय दहूं दिसि गाजे॥

औ राता रथ सोन के राजा। भए बरात मोहन सब राजा॥

X X X

धरती सरग चहूं दिसि, पूरी रहे मसियार।

बाजत आवै राममंदिर कहूं होइ मंगलचार।

इस प्रकार अनेक त्यौहारों तथा पर्वों का वर्णन भी पद्मावत में मिलता है।

(2) विरह वर्णन भी लोकजीवन को व्यंजित और स्पष्ट व्यक्त करता है। नागमति का विरह-वर्णन ग्रामीण जीवन की नारी की याद दिलाता है। बारहमास इसका ज्वलंत उदाहरण है। लोकजीवन की मास से संबंधित अनेक छविय हाहरमासा में सुरक्षित हैं। सिर्फ वर्षा काल के संदर्भ में लिखी गई एक ही पंक्ति पर्याप्त है-

पुष्य नखत सिर ऊपर आवा। हौ बिनु नाह मंदिर को छावा॥

बससै मघा झकौरि झकौरी। मारे दुई नैन चुवहिं जस ओरी॥

X X X

सावन बरसि मेह अति पानी। भरनि परी हौं विरह झुरानी॥

नागमति के वियोग वर्णन में कवि ने गांव के प्राकृतिक व्यापारों के मध्य ही का चित्रण किया है। घुघची, पलाश, परवर और गेह आदि का उल्लेख बल लोकजंवन की ही सूचना देता है। एक पंक्ति देखिए-

सखि झूमर गावहिं अंग मौरी। हौं झुराव विधुरी मोरी जोरी॥

(3) पद्मावत की लोकजीवन से ग्रहीत प्रेम कहानी में लोककथाओं का समावेश भी किया गया है। जायसी के पद्मावत का अधिक अंश लोककथाओं के सहयोग से आगे बढ़ता है। सुक और हीरामन तोते का विनियोग लोकजीवन के संस्पर्श को ही व्यक्त करता है। स्पष्ट ही है कि जायसी का झुकाव लोकजीवन की ओर था।

(4) पद्मावत में लोकजीवन की व्यंजना करने के लिए जायसी ने लोकजीवन के उपमानों को भी ग्रहण किया है। इन लोक-उपमानों तथा शब्द संयोगों के कारण पद्मावत लोकजीवन का ही काव्य ठहराता है। लोकजीवन से ग्रहीत प्रिय उपमानों में पपीहा, हिंडोला, पीतपत्ता, भरसाय (भाड़) और औरी प्रसिद्ध हैं। जायसी के पपीहे का उपमान देखिए-

पिउ वियोग सस बाउर जीऊ। पपिहा नित बोले पिउ पीऊ।

वरहाकुल व्याकुल हृदय के निमित्त कवि जायसी ने हिंडोले का जो उपमान अपनाया है वह लोकजीवन के प्रति रुचि को ही प्रदर्शित करता है-

हिय हिंडोल अस डोले मोरा। विरह झुलाय देह झकझोरा॥

पीले पत्ते का अपमान विरह के कारण पति तथा कृश हुए शरीर के लिए अपनाया गया है-

तन अस पियर पात भा मोरा। तहि पर विरह देह झकझोरा॥

इसी संदर्भ में एक और उपमान प्रस्तुत करके इस प्रसंग को खत्म करते हैं। हृदय की टीस या पीड़ातिरेक की व्यंजना विभिन्न कवियों ने विभिन्न शैलियों में की है, किन्तु जायसी ने भाड़ में गर्म बालू में भुनते हुए अन्न का उपमान प्रस्तुत किया है तथा प्रिय वियोग में नेत्रों से प्रवाहित अश्रु वर्षा ऋतु के ओलों के समान प्रतीत होते हैं। देखिए तो सही कि कवि जायसी क्या कहते हैं-

लागिउ जरै-जरै जस भारू। फिर फिर भंजेसि तजेऊ न बारू॥

X X X

बरसै मघा झकोरि। मम दुई नैन चुबहिं जस ओरी॥

निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि जायसी ने लोकजीवन का संस्पर्श और बहुत स्पष्ट संस्पर्श पद्मावत में प्रस्तुत किया है। भाषा लोकोन्मुक्तता ने लोकजीवन के विविध पक्षों तथा पर्वों को उद्घाटित किया है और साथ ही स्वयं जायसी ने यथावसर अनेक हिन्दू रीति रिवाजों और ग्रामीण वातावरण तथा तत्संबंधित पर्वों तथा त्यौहारों को इस प्रकार व्यक्त किया है जिससे यदि पद्मावत को लोकजीवन का महाकाव्य कह दिया जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। पद्मावत के विविध पक्षों में जहां दरशन, काव्य और आध्यात्मक का विशिष्ट गौरव है वैसे ही इसके लोक पक्ष का भी। लोक का विस्तृत विवेचन विद्वानों को आमंत्रित कर रहा है।

जायसी के विरह वर्णन की विशेषतायें

जायसी के विरह वर्णन के प्रकार

भारतीय काव्य शास्त्र की दृष्टि से विप्रलम्भ श्रृंगाल पाँच प्रकार का माना गया है 1. अभिलाषा मूलक विरह 2. ईर्ष्या मूलक विरह 3. वियोग मूलक विरह 4. प्रवास मूलक विरह 5. शाप मूलक विरह। इनके प्रकारों में अभिलाषा मूलक विरह वर्णन 'पद्मावती वियोग खण्ड' में पद्मावती के विरह में लक्षित होता है। इसके अतिरिक्त वियोग मूलक विरह, ईर्ष्या मूलक विरह और प्रवास मूलक विरह वर्णन नागमति की विप्रलम्भ अवस्था में देखने को मिलता है। इसके साथ ही अवस्था के आधार पर पूर्वराग, प्रवास और करुणा जैसे विरह के प्रकारों का निरूपण भी नागमति तथा पद्मावती के विरह में दृष्टिगोचर होता है। अभिप्राय यह है कि जायसी के काव्य में विरह-मूलक विप्रलम्भ श्रृंगार के सभी प्रकारों का समावेश मिलता है।

जायसी के विरह वर्णन की विशेषताएं

जायसी के विरह वर्णन की निम्नांकित विशेषताएँ हैं —

1. **वेदनापरक मार्मिक विरहोक्तियां** - जायसी के विरह-वर्णन में वेदना की प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। उन्होंने विरह वर्णन करते समय विरह में तपने वाले वेदनात्मक स्वरूप को अधिक अपनाया है। इसलिए आपने विरही की पीड़ा, व्यथा, वेदना, कसक एवं टीस के बड़े ही मर्मस्पर्शी चित्र अंकित किये हैं। आपने प्रेमी की उस विलक्षण दशा को भी चित्रित किया है जिसका स्मरण आते ही विरही व्यथित हो उठता है तथा अत्यधिक दुःखी होता हुआ भी उसी प्रेम का स्मरण करता है। उस समय

उसकी दशा ऐसी होती है जैसी बालू में पड़े चने की होती है। जैसे चना गर्म बालू में भूने जाने पर उछल पड़ता है पर बाहर नहीं जाता, उस प्रकार विरही प्रेमी को बार बार याद करके दुख पाता है, परन्तु विस्मृत नहीं कर पाता है।

2. **रोदन का प्राधान्य** - जायसी के विरह वर्णन में रोदन का भाव विशेष रूप से दृष्टिगोचर होता है। स्त्री और पुरूष पात्र आंसू बहाते हुए अपनी विरह व्यथा को प्रकट करते हैं। उनके आंसुओं में कहीं तो पर्वत के शिखर टूट जाते हैं, समुद्र मर्यादा छोड़ देते हैं और सारी सृष्टि डूब जाती है।

3. **विरह की सर्वव्यापकता** - जायसी का विरह एकांकी नहीं है। वह समस्त ब्रह्माण्ड में व्याप्त है इसलिए विरह व्याकुल का प्रभाव मनुष्य तक ही सीमित नहीं है वरन् पशु, आकाश, पाताल, स्वर्ग आदि समस्त ब्रह्माण्ड में विरह का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है, जैसे -

'विरह के अगि सूर अरि काया।
रातहिं दिवस जैर औहि ताया॥'

4. **विरह में सात्विकता की प्रधानता** - जायसी का विरह वर्णन अत्यन्त हृदय स्पर्शी और पवित्र है। उनके विरह वर्णन में कहीं भी अश्लीलता के दर्शन नहीं होते हैं। इसके अतिरिक्त जायसी ने विरह वर्णन, मनोविज्ञान के सामान्य नियमों को अपनी दृष्टि में रखकर किया है। उन्होंने यह दिखाया है कि दुख की अवस्था में कष्टदायक वस्तुएं तो कष्टप्रद होती ही हैं लेकिन आनन्ददायक वस्तुएं भी कष्टप्रद होती हैं। जैसे -

कातिक सरद चन्द उजियारी।
जग शीतल हो विरहा जारी॥

5. **प्रकृति के संवेदनापरक रूप की योजना** - जायकी के विरह वर्णन की यह एक अनूठी विशेषता रही है कि उसमें पेड़, पौधे और पशु पक्षी आदि भी विरहिणी नागमती के प्रति संवेदनात्मक भाव रखते और उसके विरह दुख से अनुतापित होते चित्रित किए गए हैं। उदाहरणार्थ, जायसी ने भ्रमर और कागों के माध्यम से स्व-पति रत्नसेन तक यह संदेश पहुंचाने की इच्छा व्यक्त की है कि वह उसकी विरहाग्नि में जल कर मर चुकी है और हम उस आग के धुएं से ही काले पड़ गए हैं।

'पिउ सौं कहेहु संदेसडा हे भौंरा! हे काग!
सो धनि बिरहै जरि मुई तोहिक धुवां हम्ह लाग॥'

6. **विरही जनों की शारीरिक कृशता** - जायसी ने अपने विरह वर्णन में विरही पात्रों की कृशता का अत्यधिक बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया है, जैसे - नागमती की दुर्बलता का एक उदाहरण देखिए-

'हाड़ भए सब किकरी, नतै भई जस लाति।
रोवं-रोवं ते धुनि उठें, कही विथा केहिं भांति॥'

7. **विरह दशा में अपनी उच्च सामाजिक स्थिति का विस्मरण** - जायसी के विरह वर्णन की एक विशेषता यह भी कही जा सकती है कि विरह के कारण उनके नागमती आदि कुछ पात्र अपनी उच्च सामाजिक स्थिति को भूलकर सामान्य नर-नारियों की भांति रोने-कलपने और गृह-दशा के सम्बन्ध में चिन्ता व्यक्त करने लगते हैं। जायसी का विरह वर्णन अत्यन्त हृदय स्पर्शी और पवित्र है। नागमती का विरह वर्णन करने में जायसी ने अपनी अपूर्व भावुकता का परिचय दिया है। नागमती विरह की दशा में अपना रानीपन भूल जाती है। वह अपने को सामान्य स्त्री के रूप में समझने लगती है। जिस प्रकार चौमासे के आने पर, पति के न आने पर साधारण स्त्री की जो दशा होती है वह नागमती की है। उदाहरणार्थ -

'पुष्प नखत सिर ऊपर आवा।

हौ बिनु नाह मदिर को छावा ।।'

8. **भारतीय एवं फारसी पद्धतियों का सम्मिश्रण** - जायसी का विरह वर्णन भारतीय और फारसी दोनों ही पद्धतियों का मिश्रण दृष्टिगत होता है। भारतीय पद्धति का अनुसरण करते हुए उन्होंने बारहमासे की योजना करते हुए वर्ष के प्रत्येक महीने में विरहिणी नागमती की शारीरिक और मानसिक दयनीय दशा का चित्रण किया है। उदाहराणार्थ - आषाढ़ महीने में आकाश में छाये बादलों को गरजते देख-सुनकर नागमती कह उठती है।

'ओनै घटा आई चहूं फेरी, कंत आवक मदन हों फेरी।'

संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'जायसी के विरह वर्णन में वेदना है, व्यथा तथा पीड़ा का आधिक्य है। कोमलता, सरलता, मार्मिक वर्णन तथा गम्भीरता का सुन्दर समन्वय उसमें है। उन्होंने चिन्ता, व्यथा, मूर्छा, व्याधि आदि समस्त दशाओं का सुन्दर चित्र अपने काव्य में प्रस्तुत किया है। उनका यह विरह-वर्णन रीतिकालीन कवियों यथा बिहारीलाल की भांति अतिश्योक्तिपूर्ण तथा मजाक की सीमा तक नहीं पहुंचा। उसमें संवेदनशीलता तथा प्रभावोत्पादकता है। प्रत्येक शब्द में हृदय को दौलायमान करने की अपूर्व शक्ति है। विरह का प्रत्येक स्थल टीस, पीड़ा आह, दर्द तथा तड़प से पूर्ण है। यह निःसंकोच स्वीकार किया जा सकता है कि जायसी का विरह वर्णन भारतीय साहित्य की अमूल्य निधि है, उनकी विरह व्यथा में जड़ चेतना को प्रभावित करने की अद्‌भुत शक्ति है।' विरहणी नागमती की भग्न हृदय की निम्नांकित चीत्कार प्रत्येक सहृदय को विगलित एवं करुणा अप्लावित करने में सक्षम है -

यह तन जारौ झारि कै, कहौ कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कंत धरै जहां पांव ।।

जायसी के इस प्रकार के मार्मिक विरहोद्‌गारों के परिप्रेक्ष्य में ही तो समर्थ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने यह मत व्यक्त किया था कि - 'जायसी को हम विप्रलंभ, श्रृंगार का प्रधान कवि कह सकते हैं। जो वेदना, कोमलता, सरलता और गम्भीरता इनके कथनों में है वह अन्यत्र दुर्लभ है।'

जायसी की रहस्य भावना के स्वरूप का परिचय

'जायसी ने अपने काव्य में जिस रहस्यवाद को अपनाया है, वह पूर्णतया सूफी मत से प्रभावित है और सूफी मत प्रेम प्रधान होने के कारण भारतीय ज्ञानात्मक रहस्यवाद का भावात्मक रूप है। सूफी मत के अनुसार कवि उस परब्रह्म की कल्पना प्रियतम के रूप में करता है। साहित्य में इस प्रकार के प्रेम प्रणय को माधुर्य भाव का प्रणय कहा गया है। अद्वैतवाद के अनुसार एक ओर आत्मा एवं परमात्मा का एक्य और दूसरी और ब्रह्म एवं जगत की एकता अन्तर्भूत है। अपनी साधना पद्धति में भक्त तथा सन्त कवि प्रथम प्रकार की स्थिति को ही महत्व देते हैं। लेकिन सूफी कवि अपनी रहस्यमयी भावना में प्रकृति की प्रत्येक विभूति में सृष्टि के कण-कण में, सृष्टि के प्रत्येक कार्य में उस परोक्ष सत्ता का संकेत व आभास रखता है। वास्तव में अद्वैत वाद के मूल में एक दार्शनिक सिद्धान्त है, वह तत्व चिन्तन का फल है। वह ज्ञान क्षेत्र की वस्तु है, लेकिन जब भावना व कल्पना के द्वार रहस्यवाद की कोई सृष्टि होती है तो वह उच्चकोटि का रहस्यवाद है। जायसी इसी कोटि के रहस्यवाद के जन्म पिता थे। वह भावुक थे, उन्होंने उस परब्रह्म की अनुभूति तथा उसको अपनी सरल भाषा द्वारा विविध रूपकों में बांधा। जायसी की विरहिणी आत्मा अपने प्रियतम के विरह में सदैव पीड़ा, कसक और उसके मधुर मिलन के लिए सर्वथा छटपटा रही है, तिलमिला रही है।' इसी से जायसी के रहस्यवाद का सरस एवं रोचक वर्णन मिलता है। जीवन का प्राप्य केवल प्रेम है -

'मनुष्य प्रेम भएउ बैकुण्ठी। नाहिं न काह छार भर मूठी।'

प्रेम एक ऐसी बाजी है जिसकी प्राप्ति में लाभ ही लाभ है -

'मुहम्मद बाजी प्रेम के, ज्यौं भावैं त्यों खेलं।
तिल फूलहिं के सज्यों, होइ फुलायन तेल।'

सूफी शब्द धर्म में रहस्यवाद का पर्यायवाची है, अत: सूफी रचनाओं में रहस्य भाव की सहज, सरस और मार्मिक अभिव्यक्ति होना स्वाभाविक ही है। जायसी के काव्य में लगभग सभी प्रकार के रहस्यवादों को सरस अभिव्यक्ति मिलती है। उनकी इस साधना का लक्ष्य दिव्य आनन्द की उपलब्धि है। जायसी आस्तिक सन्त हैं। उन्होंने कहा - 'वह परमस्वामी एक है, उसका आदि और अन्त नहीं है। केवल वही शाश्वत स्थिति है और सब कुछ नश्वर है।'

1. **भावनात्मक रहस्यवाद** - सूफी परम्परा के कवियों में भी इस रहस्यवाद के दर्शन होते हैं। जायसी भारतवर्ष के कवि हैं। इस सम्बन्ध में डा. वासुदेवशरण अग्रवाल जी ने कहा है - 'जायसी सच्चे पृथ्वी पुत्र थे, वे भारतीय जनमानस के कितने निकट थे, इस दूरी की कल्पना करना कठिन है। गांव में रहने वाली जनता का जो मानसिक धरातल है, उसके ज्ञान की जो उपकरण सामग्री है, उसके परिचय का जो क्षितिज है, उसी सीमा के हर्षित स्वर में कवि ने अपने गान का स्वर ऊंचा किया है। जनता की उक्तियां, भावनाएँ मानों स्वयं छन्द में बंधकर उनके काव्य में गुन्थ गयी हैं।' यही कारण है कि उन्होंने विविध प्रकृति व्यापारों में उस अपूर्व सत्ता का आभास किया। पद्मावती के सौन्दर्य व दीप्ति के द्वारा उस अव्यक्त व अगोचर सत्ता की ओर संकेत दिया -

'रवि ससि नखत दिपवि ओहि जोती, रतन पदारथ मानिक मोती।
ऊह जह विहसि सुभावहि इसी, तह-तह छिटकि जोति परगसी॥'

इतना ही नहीं जायसी ने - **'जेइ बह पाई छांह अनूपा,**
फिरि नहिं आइ सहे यह धूपा।'

कह कर उस विराट सत्ता को अनुपम छाया से युक्त बताया है।

सूफी मत के अनुसार गुरु का महत्व है, वह शिष्य के हृदय में उस परमात्मा के प्रति विरह की चिगारी को जलाता है। उस तक पहुंचने का मार्ग बतलाता है -

'को गुरु कगुया होई सखि, मोहि लावै मग मांह।
तन मन धन बलि-बलि, करो जोर मिला नांह।'

जायसी ने अपने रहस्यवाद में आत्मा-परमात्मा के आध्यात्मिक मिलन का अत्यन्त सजीव चित्रण किया है -

'जस किछु देई धरै आपन लेइ संभारि।
तस सिंगार सब लीन्सेहि मोहि केन्हेसि ठठियारि॥'

2. **साधनात्मक रहस्यवाद** - जायसी के पद्मावत में भावनात्मक रहस्यवाद के साथ-साथ यत्र-तत्र साधनात्मक रहस्यवाद की भी नियोजना हुई है। उनके हठयोगियों ने इगला, पिंगला, सुषन्ना आदि पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग करने के साथ शरीर रूपी किले में जो नौ द्वार आदि बताए हैं, वे जायसी की साधनात्मक रहस्यवाद में आस्था को अभिव्यंजित करते हैं। पद्मावत के 'पार्वती महेश खण्ड' में महादेव द्वारा सिंहलगढ़ का जो वर्णन किया गया है साधनात्मक रहस्यवाद से प्रभावित है-

'नौ पोरों तेहि गढ़ मझियारा,
औ तहँ फिरहिं पांच कोट वारा।
दसवां दुआर सुपूत एक ताका,

अगम चढ़ाव पर सुठि बांका।'

जायसी ने इस साधनात्मक रहस्यवाद में सूफियों की चार दशाओं का भी अन्तर्भाव दिया है। ये चार दशाएं हैं - 1. सरीयत 2. तरीकत 3. हकीकत 4. मारिफत । इन दशाओं में शरीकत का अर्थ है धर्मानुकूल आचरण करना, तरीकत का अभिप्राय है- सांसारिक क्रियाओं से दूर होकर पावन हृदय से ईश्वर का चिन्तन करना। इसी प्रकार हकीकत की दशा में साधक तत्व दृष्टि को प्राप्त करके त्रिकालज्ञ हो जाता है, जबकि मारिफत को अन्तिम सिद्धावस्था में बाधक प्रेम के माध्यम से ईश्वर में लीन हो जाता है।

3. **अभिव्यक्तिमूलक रहस्यवाद** - जायसीकृत पद्मावत में यत्र-तत्र अभिव्यक्ति मूलक रहस्यवाद की भी व्यंजना हुई है। इस प्रकार के रहस्यवाद में अभिव्यक्ति का चमत्कार प्रधान तथा रहस्यवाद की भावना गौण होती है। अभिप्राय यह है कि साधारण से भाव को प्रकट करने के लिए भी कवि ऐसे प्रतीकों की योजना करता है कि पाठक का मन भाव या विचार की ओर न रहकर उस चमत्कारिक अर्थ की ओर आकर्षित हो जाता है। जायसी की यद्यपि चमत्कार प्रदर्शन की ओर अभिरुचि नहीं थी तथापि उन्होंने भी युग प्रभाव के कारण इस प्रकार की चमत्कारबाजी प्रदर्शित की है। उदाहरण के लिए 'रत्नसेन-पद्मावती' विवाह खण्ड में कवि ने अभिव्यक्तमूलक रहस्यवाद की शब्दावली का प्रयोग करते हुए नाद, मद और पेड़ शब्दों का प्रयोग किया है - 'नाद जब हृदय में होता है तो काया में मद उत्पन्न हो जाता है, जहां मन है वहां पेड़ है, छाया नहीं है।' कहा जा सकता है कि जायसी ने इस प्रकार के उल्लेख सत्संगति द्वारा अर्जित ज्ञान के आधार पर किये हैं।

निष्कर्ष – अंततः कहा जा सकता है कि जायसी के रहस्यवाद में सूफी प्रेम तत्व एवं भारतीय ज्ञान का सुन्दर समन्वय हुआ है। डा. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने उचित ही कहा है कि - 'जायसी के रहस्यवाद में रहस्यात्मक अनुभूति का प्राधान्य है, उस अनुभूति के वर्णनों में भावुकता का प्राधान्य है। इसी से जायसी के रहस्यवाद का सरस एवं रोचक वर्णन मिलता है, उसमें भावात्मक वर्णनों की प्रचुरता दिखाई देती है, उसमें सरस एवं मधुर उक्तियों का बाहुल्य दिखाई देता है और उसमें संवेदनशीलता एवं सहानुभूति के साथ-साथ रमणीयता एवं रसमयता के दर्शन होते हैं।' ऐसी दशा में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का यह अभिमत पूर्णतः उचित प्रतीत होता है कि 'हिन्दी के कवियों में यदि कहीं रमणीय और सुन्दर अद्वितीय रहस्यवाद है तो जायसी में ही है।'

महाकाव्य की दृष्टि से 'पद्मावत' का महत्व

जायसी प्रणीत 'पद्मावत' मावन जीवन की विविधता से युक्त महाकाव्य है। साहित्य दर्पणकार के अनुसार महाकाव्य का कथानक ऐतिहासिक या लोक प्रसिद्ध हो जो नाटकियों से युक्त आठ से अधिक सर्गों में विभाजित हो तथा सर्गों में सानुबन्धता हो। नायक देवता या उत्तम वंश में उत्पन्न क्षत्रिय राजा हो सकता है, जो धीरोदात्त हो । रस की दृष्टि से श्रृंगार, शान्त अथवा वीर रस में से कोई एक रस प्रधान हो। लक्ष्य की दृष्टि से कथानक धर्म, काम, अर्थ अथवा मोक्षोन्मुख हो। इन प्रमुख लक्षणों के अतिरिक्त साहित्य दर्पणकार ने महाकाव्य की कुछ अन्य विशेषताएं भी बतलाई हैं जैसे -

1. प्रारम्भ में आशीर्वाद, नमस्कार और कथावस्तु का निर्देश।
2. कहीं खलों की निन्दा और कहीं सज्जनों की स्तुति।
3. एक सर्ग में एक ही छन्द का प्रयोग हो, किन्तु सर्गान्त के छन्द में भिन्नता हो, साथ ही एक सर्ग विभिन्न छन्दों वाला हो।
4. सर्गान्त में आगे की कथा की सूचना हो।

5. नामकरण कवि के नाम, नायक के नाम या उद्देश्य के अनुसार हो।

6. संध्या, सूर्य, चन्द्र, रात, अंधकार, प्रदोष, दिन, प्रात:, दोपहर, शिकार, पर्वत, मौसम, वन, समुद्र, संयोग, वियोग, युद्ध, ब्याह, सन्तति, अभ्युदय आदि के वर्णन हों।

कथानक - 'पद्मावत' की मुख्य कथा रत्नसेन-पद्मावती की कथा है। इस कथा को पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। 'रत्नसेन-सन्तति खण्ड' तक की कथा पूर्वार्ध के अन्तर्गत है और 'राघव चेतन देश निकाला खण्ड' से 'सत्ती खण्ड' तक कथा का उत्तरार्ध है। इसका पूर्वार्ध जहां काल्पनिक है, वहां उत्तरार्ध ऐतिहासिक आधार पर स्थित है। इस प्रकार कथानक में कल्पना और इतिहास का सुन्दर समन्वय हुआ है। मसनवी शैली में लिखा होने के कारण 'पद्मावत' में सर्ग - बद्धता नहीं है, परन्तु कथावस्तु घटनाओं और वस्तु-वर्णनों के आधार पर 58 खण्डों में विभाजित है। प्रत्येक खण्ड न तो बहुत छोटा है और न बहुत बड़ा है। एकाध खण्ड अवश्य छोटे हो गये हैं, जैसे 'रत्नसेन-सन्तति-खण्ड' एक ही छन्द का है, परन्तु इससे कथा के प्रवाह में विराम नहीं पड़ता है। प्रत्येक खण्ड सानुबन्ध क्रम श्रृंखला में बंधा हुआ है। 'नागमती वियोग खण्ड' और 'सन्देश खण्ड' पाठकों को कथानक के बीच अधिक समय तक ठहरा लेते हैं। इनसे कथानक विराम अवश्य लेता है, परन्तु कथा की श्रृंखला टूटने नहीं पाती। ये स्थल इतने रसमय और मार्मिक हैं कि इनमें संकोच होने से 'पद्मावत' के काव्य तत्व को हानि पहुंचती है।

नायक - 'पद्मावत' का नायक रत्नसेन श्रेष्ठ क्षत्रिय कुलोद्भव है। उत्साह, शौर्य, पराक्रम, दया-दाक्षिण्य, स्वाभिमान आदि समस्त गुणों की दृष्टि से वह धीरोदात्त नायक है -

'जंबूदीप चित्तउर देसा, चित्रसेन बड़ तहां नरेसा।
रतन सेन यह ताकर बेटा, कुल चौहान जाइ नहिं मेटा।'

नायिका - नायिका पद्मावती अलौकिक सुन्दरी होने के साथ-साथ प्रेम, शौर्य, तेज, पति-परायणता, दया, क्षमा आदि उदात्त गुणों से सम्पन्न है। वह उच्च कुलोद्भव क्षत्रिय वंश की राजकुमारी है।

रस - रस की दृष्टि से श्रृंगार रस प्रधान है। श्रृंगार के साथ सहायक रूप में वीर, अद्भुत, शान्त आदि रसों का निरूपण हुआ है।

उद्देश्य - पद्मावत का उद्देश्य महान है। पद्मावती तथा नागमती के सती होने पर भौतिक प्रेम आध्यात्मिक प्रेम में परिणित हो जाता है। कवि भारतीय कथा के माध्यम से सूफी सिद्धान्तों का विवेचन करता हुआ प्रेम को सर्वोपरि सिद्ध करता है और आत्म बलिदान एवं अनन्य प्रेम के द्वारा ही अभीष्ट फल प्राप्ति की व्यंजना करता है। कथानक के बीच में आध्यात्मिक संकेत कथा-प्रवाह में बाधक बनते हैं, परन्तु फिर भी सम्बन्ध निर्वाह में कवि को अद्भुत सफलता मिली है। 'पद्मावत का प्रधान फल मोक्ष है।'

काव्य और कथा-खण्डों का नामकरण - 'पद्मावत' का नामकरण नायिका पद्मावती के नाम पर है तथा कथानक खण्डों के नाम घटना एवं वस्तु वर्णन के आधार पर हैं। विस्तृत वर्णन - महाकाव्य के अनुरूप ही 'पद्मावत' में व्यापक और विशाल वर्णन हैं। कथानक नगर, दुर्ग, समुद्र, युद्ध, संध्या, सूर्य, चन्द्रमा, रात्रि, प्रदोष, यात्रा, ऋतु, ब्याह, ज्यौनार, संयोग-वियोग आदि के उदात्त और विशाल वर्णन से युक्त है।

महाकाव्य की अन्य विशेषताएँ

उपर्युक्त प्रमुख विशेषताओं के साथ-साथ पद्मावत में महाकाव्य की अन्य विशेषताएं भी हैं। प्रारम्भ में ईश्वर आदि की स्तुति के रूप में मंगलाचरण है-

'सुमिरौं आदि एक करतारू, जेहि जिउ दीन्ह कीन्ह संसारू।

कीन्हेसी प्रथम जोति परगासू, कीन्हेसि तेहि पिरीत कैलासू।'

खल निन्दा तथा सज्जन-प्रशंसा का भी उल्लेख है। कथावस्तु का निर्देश भी स्तुति-खण्ड के अन्तिम छन्द में दिया गया है -

'सिंहलद्वीप पद्मिनी रानी, रतनसेन चितउर गढ़ आनी।
अलाउद्दीन देहली सुलतानू, राघवचेतन कीन्ह बखानू।
सुना साहि गढ़ छेंका आई, हिन्दू तुरकन भई लराई।
आदि अन्त जस गाथा अहै, लिखि भाषा चौपाई कहै।'

डा. राजदेव सिंह और उषा जैन ने पद्मावत के काव्य रूप पर विचार करते हुए उसे 'रोमांस काव्य' माना है। उनके अनुसार 'पद्मावत' कथा काव्य है जिसे रोमांस काव्य या प्रेमाख्यान काव्य भी कहते हैं। रोमांस काव्य में कवि का लक्ष्य किसी महान आदर्श की प्रतिष्ठा करने का नहीं रहता। वह सौन्दर्य, प्रेम और विरहजन्य अभिव्यक्ति को ही अपना सबसे बड़ा लक्ष्य मानता है। इस दृष्टि से वे सब आक्षेप निराधार सिद्ध हो जाते हैं जो कि महाकाव्य मानकर इस पर लगाए गए हैं। ..... अत: 'पद्मावत' रोमांस काव्य है।'

इन्होंने रोमांस काव्य के निम्न लक्षणों को आधार मानकर पद्मावत की परीक्षा की है-

1. रोमांस काव्य में आदर्श और उदात्त प्रेम व्यापारों की अधिकता तथा साहस, शौर्य एवं संघर्ष का मिश्रण होता है।
2. इसमें कल्पना और सम्भावना के द्वारा कथा को आगे बढ़ाया जाता है।
3. चमत्कारपूर्ण घटनाओं के द्वारा कथा का विकास होता है।
4. व्यक्तित्व की प्रधानता होती है।
5. आंतरिक भावों की अभिव्यक्ति होती है।
6. सहज, दुर्लभ, असम्भव और अद्भुत कार्यों की प्रधानता होती है।
7. रोमांस काव्य के पात्र असाधारण होते हैं और उनका दर्शन विरल होता है।
8. इसमें क्रीड़ा, समारोह, रण-प्रयाण, श्मशान यात्रा के दृश्य, धार्मिक युद्ध इत्यादि का वर्णन होता है।
9. काव्य की आत्मानुभूति, कल्पना और आवेग का प्राधान्य होता है।
10. पहले रोमान्स काव्य गद्य और पद्य मिश्रित थे, लेकिन अब केवल पद्य - बद्ध होते हैं।

अब इन समस्त लक्षणों के आधार पर 'पद्मावत' का परीक्षण करने पर हम पाते हैं कि रोमांचक कथा-आख्यायिका, रोमांचक महाकाव्य, रोमांस काव्य या कथा काव्य में मनोरंजन और रसात्मकता के साथ-साथ, भावुकता और कल्पना का प्राधान्य रहता है जबकि 'पद्मावत में भावुकता और काल्पनिकता के साथ-साथ शास्त्रीय महाकाव्य की तरह बौद्धिकता, पांडित्य प्रदर्शन, रहस्यवाद और आध्यात्मिकता की प्रवृत्ति भी है, अत: 'पद्मावत' रोमांस काव्य, कथा-काव्य, रोमांचक कथा, आख्यायिका या रोमांचक महाकाव्य नहीं है।

'पद्मावत' के सन्दर्भ में केवल यही कहा जा सकता है कि उसमें महाकाव्य के कतिपय परम्परागत लक्षण भले ही न मिलें, फिर भी वह हिन्दी के श्रेष्ठतम महाकाव्यों में से एक है। महाकाव्य की अमरता उसकी आन्तरिक प्राण शक्ति, सशक्त प्राणवत्ता और अनरुद्ध जीवनी शक्ति के कारण भी होती है। गम्भीर जीवन-दर्शन, महान उदार, सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक प्रेम संदेश, लोक प्रवृत्तियों का अन्त: स्पन्दन, लोकभाषा का पूर्ण निखार, लोकमंगल की भावना, आध्यात्मिक साधन, मानवता ने

'पद्मावत' में एक महान जीवन-दर्शन और सशक्त प्राणवत्ता का उपस्थान किया है। अपने युग की साधना का शाश्वत अमर संदेश 'पद्मावत' में मूर्तिवान है।

जायसी के प्रकृति-चित्रण की विशेषतायें

प्रकृति अनादिकाल से मानव की सहचरी रही है। मानव और प्रकृति का पुरातन संयोग है। दोनों ही सदा एक-दूसरे पर मुग्ध रहे हैं। कवियों की अनुभूतियाँ प्रकृति की गोद में पल्लवित एवं विकसित हुई हैं। प्रकृति ने कविता के श्रृंगार में सर्वाधिक योग प्रदान किया है। देश और काल के भेद से कवियों ने विविध रूपों में प्रकृति को निहारा है। प्रकृति ने जायसी पर भी अपना मनोमुग्धकारी प्रभाव डाला है। पद्मावत के अनेक सुंदर और हृदयग्राही स्थलों से उनके सूक्ष्म निरीक्षण और अनुभव शक्ति का पता चलता है। जायसी ने प्रकृति के क्रीड़ा-कलाप को भावपूर्ण दृष्टि से देखा है तथा प्रकृति के व्यापारों के साथ मानव व्यापारों का साम्य स्थापित करते हुए सूक्ष्म मनोभावों के सरस एवं सुंदर चित्र अंकित किए हैं। यही कारण है कि जायसी का 'पद्मावत' प्रकृति परी पर अंकित मानव-भावनाओं का आकर्षण चित्र है तथा विभिन्न अलंकारों से सुसज्जित प्रकृति-वधू का श्रृंगार है। जायसी ने प्रकृति के कई रूपों को उभारा है।

(1) **आलंबन रूप-** प्रकृति के इस रूप चित्रण में कई शैलियाँ अपनायी गई हैं। डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना के अनुसार एक तो कवि ने बिम्ब ग्रहण-प्रणाली के आधार पर रम्य एवं भयंकर रूप में चित्रित करते हुए प्रकृति के संश्लिष्ट एवं बिम्बग्राही चित्र प्रस्तुत किये हैं और दूसरी ओर नाम परिगणन प्रणाली को अपनाकर प्राकृतिक वस्तुओं के केवल नाम ही गिना दिये हैं।

(i) **बिम्ब ग्रहण प्रणाली-** इसके दो उदाहरण यहाँ प्रस्तुत हैं। 'मान सरोदक' का वर्णन करते हुए कवि ने प्रकृति के रमणीक रूप की अत्यंत भव्य एवं आकर्षक झाँकी प्रस्तुत की है-

मान सरोदक बरनौ काहा। भवा समुद अस अति अवगाह।
पानी मोति असि निरमल तास्। अमृत आनि कपूर सुवास॥
लंकदीप कै सिला अनाई। बाँधा सरवर घाट बनाई॥
खँड खँड सीढ़ी भई गरेरी। उतरहिं चढ़हिं लोग चहुँ फेरी॥
फूला कवल रहा होइ राता। सहस-सहस पखुरिन कर छाता॥

इसी के साथ कवि ने प्रकृति के भयानक रूप की झाँकी अंकित करते हुए 'किलकिला' समुद्र का वर्णन करते हुए कहा कि जिसकी गगनचुंबी लहरों को देखते ही धैर्य जाता रहता है और जो भूमि से आकाश तक लहरों के रूप में खड़ा-सा प्रतीत होता है-

पुनि किलकिला समुद महँ आए। गा धीरज देखत डर खाए॥
भा किलकिल अस उठै हिलोरा। जनु अकास टूटै चहुँ ओरा॥
उठे लहरि परवत कै नाई। फिर आवै जोजन सौ ताई॥
धरती लेई सरग लहिं बाढ़ा। सकल समुद्र जानहुँ भा ठाढ़ा॥

(ii) **नाम परिगणन शैली-** इस प्रणाली का अनुसरण करते हुए जायसी ने सिंहलद्वीप के उन समस्त वृक्षों के नाम गिना डाले हैं जो वहाँ के उपवनों में विद्यमान हैं।

फरे आंव अति सघन सोहाये। औ जस फरे अधिक सिर नाये॥
कटहर डार पींडसन पाके। बड़हर सो अनूप अति ताके॥
खिरनी पाकि खाँड अस मीठी। जामुन पाकि भंवर अति डीठी॥
नारिअर फरे फरहरी। फुरै जानु इन्द्रासन बुरी॥

लवंग सुपारी जायफल, सब फर फरे अपूर ॥
आस-पास घन इमली, और घन तार खजूर ॥

(2) **उद्दीपन रूप-** इस रूप में प्रकृति के सुखदायी और दुखदायी दोनों रूपों का चित्रण हुआ है। रत्नसेन और पद्मावती के मिलनकाल में प्रकृति, दोनों के हृदय सुखद भावनाओं का संचार करती दिखाई देती हैं-

पद्मावती चाहत ऋतु पाई। गगन सोहावन भूमि सौहाई।
चमकि बीजु बरसै जल सीना। दादुर मोर सबइ सुठि लोना ॥
रंग राती पीतम संगी जागी। गरजै गगन चौंकि गर लागी ॥
सीतल बूँद ऊंच चौवारा। हरिअर जब देखहिं संसारा ॥

वहीं यही प्रकृति वियोग काल में पीड़ादायक भी है। विरह-व्यथित नागमती के मन में प्रकृति सुखद भावों को उद्दीप्त करती हुई उसे पीड़ा प्रदान कर रही है-

खड़ग बीज चमकें चहुँ ओरा। बुंदबान बरसहिं घन घोरा ॥
ओनई घटा आइ चहुँ फेरी। कंत! उबारू मदन हौं घेरी ॥
दादुर मोर कोकिला पीऊ। गिरै बीजु, घट रहै न जीऊ ॥

(3) **रहस्यात्मक रूप-** इस शैली में जायसी ने प्रकृति के कण-कण में अपने प्रियतम की छाया देखी है। स्थान-स्थान पर वे लौकिक सौंदर्य द्वारा अनंत सौंदर्य का संकेत देते हैं। यथा-

(i) **रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।**
रतन पदारथ मानिक मोती ॥

(ii) **नयन जो देखा कँवल भा, निरमल नीर सरीर।**
हँसत जो देखा हँस भा, दसन ज्योति नग हीर ॥

अपने इस आध्यात्मिक संकेतों में कवि इतना सिद्धहस्त है कि वह सारी प्रकृति को सजीव चित्रित करता है। पद्मावती जब नहाने जाती है तो सरोवर भी उसके रूप पर मुग्ध हो जाता है-

सरवर रूप विमोहा, हिऐ हिलोरई लेई।
पाँव छुवै मकु पावौं एहि मिस लहरेहिं देई ॥

(4) **प्रतीकात्मक रूप-** इस शैली में कवि प्रकृति की कुछ विशेष वस्तुओं को प्रतीक रूप में ग्रहण करता है। जायसी ने भी इस शैली को अपनाया है और इससे कथा भाग भी स्पष्ट हो गया है तथा उन प्रतीकों के माध्यम से अपने आशय को भी स्पष्ट कर दिया है। 'पद्मावत' में सूरज, चाँद, कँवल, भँवरा आदि प्रतीकों को आध्यात्मिक अर्थ की व्यंजना के लिए बार-बार प्रयोग किया है। यथा-

कँवल जो बिगसा मानसर बिनु जल गयउ सुखाई ॥
अबहु बेलि फिर पलुहैं जो पीउ सींचे आइ ॥

(5) **मानवीकरण रूप-** कवि ने प्रकृति के मानवीकरण रूप की झाँकी भी अंकित की है। जायसी का मान सरोवर एक व्यक्ति की भाँति चेष्टा करता दिखाई देता है। भा निरमल तिन्ह पायन्ह परसे, कहकर पद्मावती के चरण-स्पर्श द्वारा पवित्र होते हुए दिखाया गया है तथा 'भा सीतल गै तपनि बुझाई' कहकर पद्मावती के शरीर की मधुर एवं शीतल गंध का स्पर्श करते ही उसकी सभी प्रकार की तपन शांत होने लगती है तथा वह शीतलता का अनुभव करने लगता है-भी अंकित है। इस प्रकार मान सरोवर को मानवों की तरह चेष्टाएं करते हुए दिखाकर कवि ने प्रकृति के मानवीकरण रूप की चर्चा की है।

(6) **वातावरण निर्माण-** जायसी ने प्रकृति को वातावरण निर्माण के लिए भी प्रयोग किया है। जिस समय राजा रत्नसेन साधना-पथ के सभी विघ्नों को पार करके सिद्धि प्राप्ति के निकट जा पहुँचते हैं, उस समय उस वातावरण की सृष्टि करने के लिए कवि ने सातवें समुद्र 'मानसर' का वर्णन किया है, जिसमें पहुँचते ही सभी प्रसन्न एवं हर्ष से परिपूर्ण हो जाते हैं उनका यह उल्लास सरोवर में विद्यमान पुरइन की भाँति छा जाता है। अज्ञान की रात्रि व्यतीत हो जाती है और प्रभात होते ही ज्ञान का आलोक चारों ओर फैल जाता है-

देखि मानसर रूप सुहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा॥
गा अंधियार रैनि-मसि छूटी। भा भिनसार किरनी रवि फूटी॥

(7) **संवेदनात्मक रूप-** जायसी ने प्रकृति को इस रूप में भी प्रयोग किया है। प्रकृति वियोगिनी नागमती के प्रति संवेदना भी प्रकट करती है। एक पक्षी वियोगिनी नागमती के प्रति संवेदना प्रकट करते हुए, नागमती से उसकी विरह-व्यथा के बारे में पूछता है-

तू फिरि फिरि दाहै सब पाँखी। केहि दुख रैन न लावसि आँखी॥

पक्षी वियोगिनी नागमती की व्यथा सुनकर उसके विरह-जन्य दुःख को दूर करने के लिए उसका संदेश सिंहलद्वीप तक ले जाने को तैयार हो जाता है।

(8) **संदेशवाहक रूप-** जायसी ने प्रकृति को इस रूप में भी चित्रित किया है। एक पक्षी नागमती का संदेश लेकर सिंहलद्वीप जाता है, उसका संदेश पाकर राजा रत्नसेन चित्तौड़ लौटने पर विवश हो जाता है-

लेई सो संदेस विहंगम चला। उठी आगि सगरौं सिंघला॥

(9) **आलंकारिक रूप-** अलंकारों की गहरी भावात्मक व्यंजना हेतु प्रकृति का प्रयोग करते हुए कवि ने प्रकृति के अनेक सादृश्यों को अपनाया है। रूप-वर्णन हो या विरह-वर्णन-जायसी ने सभी स्थलों पर एक-से-एक सुंदर एवं मौलिक उपनामों की सृष्टि की है-

(i) **बरनौ माँग सीस उपराहीं। सेंदुर अबहि चढ़ा तेहि नाहीं॥**
बिनु सेंदुर जानहु दिया। उजियर पंथ रैन महंकिया॥

(ii) **कित कर मुँह नैन भये, जीनु हरा जेहि बाट।**
सूखा नीर बिछोह जिमी दराकि गएउ हिए फाट॥

इस प्रकार के अनेक चमत्कारपूर्ण कल्पना प्रसूत वर्णन जायसी में मिलेंगे। दरअसल उपमान रूप में जायसी के पद्मावत में प्रकृति-वर्णन बहुत अधिक मात्रा में मिल जाता है। यह भी माना जाता है कि कदाचित सारे हिन्दी-काव्य में प्रकृति की इतनी खोज किसी कवि ने की हो। जब वे समासोक्ति का सहारा लेते हैं तो छोटे-छोटे इंगित में आध्यात्म संबंधी बड़ी-बड़ी बातें कह जाते हैं-

जेइ वह पाई छाँह अनूपा। फिरि निहिं आइ सहै वह धूपा॥
अस अमराउ सघन घन, बरनि न पादौ अंत॥
फूलै फलै छहौ ऋतु, जानहु सदा बसंत॥

उपसंहार- यद्यपि जायसी ने प्रकृति के चित्रण की सभी शैलियों को अपनाया है, पर वे प्रकृति का भव्य-रूप उपस्थित नहीं कर सके। वे अपने आध्यात्मिक दृष्टिकोण के प्रतीकों में खोये रहे या मनुष्य के सुख-दुःख के रंगों में ही उसको देखा। प्रकृति का स्वतंत्र मनोमुग्धकारी स्वरूप उनकी आंखों से ओझल रहा। किन्तु यह सब होते हुए भी, उनकी काव्यानुभूति पर कोई आंच नहीं आती है। प्रकृति के माध्यम से अपने प्रियतम की जो छवि प्रस्तुत की है, वह अद्वितीय है। उसके साथ-साथ रागात्मक वृत्ति के सुख-दुःख की जो वैविध्यपूर्ण अभिव्यंजना वे कर पाये हैं, उससे उनके

सूक्ष्म प्रकृति निरीक्षण एवं सहृदयता का पता लगता है। प्रेम और प्रकृति को एक रंग में रंग कर जायसी ने अपने काव्य में अद्‌भुत आकर्षण उत्पन्न कर दिया है।

- डॉ. देवीशरण रस्तोगी

डॉ. द्वारिका प्रसाद सक्सेना के अनुसार सबसे अधिक कवि का ध्यान षट्-ऋतु वर्णन एवं बारहमासों के वर्णन की ओर गया है। वे ऋतु-वर्णन मनुष्य की रागात्मिका वृत्ति के आलंबन रूप में अंकित होने के कारण अत्यंत सरस एवं प्रभावोत्पादक हैं। इनमें कवि की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति के साथ-साथ परिवर्तनों की जानकारी भी विद्यमान है। इसलिए कवि ने ग्रीष्म काल में सूखे हुए तालाबों की दरारों को वर्षा का पहला जल कैसे मिलाकर एक कर देता है। इसका बड़ा ही प्रभावशाली वर्णन किया है-

सरवर-हिया घटत निति जाई। टूक-टूक होइ कै बिहराई।
विहरत हिया करहु पिउ टेका। दीठि दवँगरा मेखहु एका।

कवि ने प्रकृति में ऐसी विराट सत्ता के दर्शन किए हैं। जिसके उदर में संपूर्ण विश्व समाया हुआ है तथा जो अनंत सौंदर्य के साथ प्रकृति के कण-कण में विद्यमान है।

"जायसी के पद्‌मावत में सौंदर्य वर्णन

जायसी प्रेममार्गी सूफी कवि थे। प्रेम का आधार ही सौंदर्य है। निर्गुण संतों ने भी उसे तेज पुंज कहा है और सगुण कवियों ने तो अपने आराध्य के रूप-सौंदर्य के विलक्षण चित्रण किए हैं। साथ ही 'पद्‌मावती' का रूप सौंदर्य भी विलक्षण था-यह ऐतिहासिक सत्य है। अत: जायसी ने अपने प्रेमी कवि रूप और पद्‌मावत की नायिका के विलक्षण रूप की रक्षार्थ जी खोलकर रूप का चित्रण किया है।

पद्‌मावत के रूप-वर्णन संबंधी स्थल- 'पद्‌मावत' मूलत: प्रेम-प्रधान काव्य है और इसलिए उसमें सौंदर्य-वर्णन बड़े मनोयोग के साथ उपस्थित किया गया है। ऐसे प्रमुख स्थल हैं-'सिंहलद्वीप वर्णन खंड' का पनिहारी वर्णन तथा वेश्या वर्णन, 'मानसरोदक खंड' का पद्‌मावती वर्णन, 'नख-शिख खंड' का पद्‌मावती-वर्णन, 'पद्‌मावती रत्नसेन भेंट खंड' का पद्‌मावती-श्रृंगार वर्णन, 'नागमती-पद्‌मावती विवाह खंड' में नागमती पद्‌मावती वर्णन, 'स्त्री-भेद वर्णन खंड' में स्त्री सौंदर्य वर्णन, 'पद्‌मावती रूप-चर्चा खंड' में पद्‌मावती वर्णन, 'चित्तौड़गढ़ वर्णन खंड' में पद्‌मावती वर्णन।

पद्‌मावती के रूप-वर्णन की प्रधानता- इन सभी स्थलों का अवलोकन करने के बाद यह स्पष्ट हो सकेगा कि सबसे अधिक विस्तार के साथ जायसी ने पद्‌मावती के रूप का वर्णन किया है। यह स्वाभाविक भी था? सूफी धर्म प्रेम प्रधान है और डॉ. शंभुनाथ सिंह की मान्यता है, प्रेम वहीं होगा जहाँ रूप होगा। जायसी ने 'पद्‌मावत' में पद्‌मावती के सौंदर्य का जो इतने अधिक विस्तार के साथ तथा मनोयोग के साथ वर्णन किया है, उसका मुख्य रहस्य यही है। साथ ही जायसी ने लौकिक प्रेम की व्यंजना के माध्यम से अलौकिक प्रेम की व्यंजना करते हुए पद्‌मावती को जिस अलौकिक सत्ता के रूप में देखा है, उसका भी प्रभाव जायसी के सौंदर्य वर्णन पर है। यह तथ्य भी विशेष उल्लेखनीय है कि पद्‌मावती का सौंदर्य लौकिक और अलौकिक दोनों है। 'नख-शिख वर्णन' में जहाँ यह पूर्णत: लौकिक रहा है, वहीं मान सरोदक खंड में उसकी आभा कण-कण में व्याप्त दिखाकर जायसी ने उसे अलौकिकता प्रदान कर दी है-जहाँ प्रकृति के तत्व भी उसके रूप पर आसक्त हो उठे हैं-

देखि मानसर रूप सोहावा। हिय हुलास पुरइन होई छावा।
गा अंधियार रैन मसि छूटि। भा भिनसार किरन रवि फूटी॥

डॉ. देवीशरण रस्तोगी की मान्यता है कि यदि ध्यानपूर्वक विचार किया जाये तो पता चलेगा कि पद्मावती-सौंदर्य संबंधी स्थलों में सबसे अधिक महत्वपूर्ण बन पड़ा है 'नख-शिख खंड' का नख-शिख वर्णन। उसकी महत्ता की अनुभूति दो ओर से होती है-पद्मावती के सौंदर्य का वर्णन करते समय कवि का स्थान-स्थान पर 'अनंत सौंदर्य' की ओर संकेत करना और सौंदर्य-वर्णन की परंपरागत (नख-शिख) पद्धति के आधार पर पद्मावती के अंग-प्रत्यंग का सौंदर्य प्रस्तुत करना।

जायसी का रूप चित्रण

सौंदर्य वर्णन की परंपरागत पद्धति (नख-शिख) का अनुसरण करते हुए जायसी ने 'नख-शिख खण्ड' में पद्मावती के क्रमशः केश, माँग, ललाट, भ्रू, नयन, बरूनी, नासिका, अधर, दाँत, जिह्वा, कपोल, तिल, कान, गर्दन, बाँह, हथेली, कुच, पेट, रोमावली, पीठ, कमर, नाभि, नितंब, जंघा तथा चरण का वर्णन किया है। रागोत्प्रेरकता की दृष्टि से यह वर्णन कई स्थल पर सफल बन पड़ा है। डॉ. रस्तोगी इस सफलता के दो आधार मानते हैं-

(1) कवि का अंग विशेष के सौंदर्य को पूरी तरह से पहचान पाना और (2) पहचान कर रमणीय प्राकृतिक वस्तु के आधार पर उसको पाठक या श्रोता के सम्मुख उपस्थित कर देना। उदाहरण स्वरूप ये पंक्तियाँ देखिए-

कौवर कुटिल नेस नग करि। लहरिन्ह भरे भुअंग बैसारे॥
बेधे जनो मलयगिरि वासा। सीस चढ़े होटहिं चहु पासा॥

केशों की श्यामता, घुंघरालापन और लहराते केश स्वाभाविक सुंदर होते हैं, इसी कारण जायसी ने उनकी इन विशिष्टताओं को अधिक उभारने हेतु चंदन के वृक्ष पर सुगंध से मस्त हुए सर्पों की ओर संकेत किया है। परिणामतः पंक्तियों को पढ़ते ही नायिका के केशों के सौंदर्य की कल्पना में मन लीन हो जाता है और ज्यों-ज्यों इन केशों के घुंघरालेपन की अनुभूति होती है, आनंदानुभूति बढ़ती ही चली जाती है। सर्पों की तुलना से कवि को एक अन्य लाभ भी हुआ है। नायिका के केशों के परंपरागत प्रभाव विशेष (घातक प्रभाव) की अभिव्यंजना साथ-साथ होती चलती है।

जायसी का रूप चित्रण इतना स्पष्ट, प्रभावी और सादगी से भरा है कि पढ़ते ही हमारी रागात्मिका वृत्ति झंकृत हो उठती है तथा हम भाव-मग्न होकर आनंद-वारिधि में डुबकियाँ लगाने लगते हैं। पद्मावती की माँग की शोभा का चित्र देखिए-

बिनु सैंदुर अस जानहु दिया। उजिअर पंथ रैनि महँ किया।
कंचन रेख कसौटी कसी। जनु धन महँ दामिनि पर गसी॥
सूरूज किरनि जस गगन विसेखी। जमुना माँझ सरसुती देखी॥

जहाँ भी जब जायसी ने रूप को उठाया है, उसकी समस्त सौंदर्य राशि को उभारकर सामने लाते हुए उसके प्रभाव की ओर भी संकेत कर दिया है। बांके नेत्रों की छटा देखिए-

जग डोलै डोलत नैना हाँ। उलटि अडार जाहिं पल माहाँ।
जबहिं फिरावहिं गगन गहि बोरा। अस वै भँवर चक्र के जोरा॥

जायसी की सूक्ष्म निरीक्षण शक्ति इतनी प्रभावी है कि पाठक उसमें रसमग्न हुए बिना नहीं रह पाता है-

लाहरै देति पीठि जनु चढ़ी।
चीर-ओहार केंचुली चढ़ी॥

वस्त्र के अंदर से दिखाई पड़ रही वेणी को केंचुली चढ़ा नाग कह कर कितनी प्रभावी व्यंजना की है।

अधरों का सौंदर्य कितना मादक और प्रभावी है-

अधर सुरंग अमिअ रस भरे। बिम्ब सुरंग साजि बन फरे।

इसी प्रकार के कुछ अन्य स्थल भी हैं-

(1) **जुरे जंघ अति सोभा पाये।**
केरा खंभ फेरि जनु लाये॥

(2) **चाक चढ़ाइ सांच जनु कीन्हा।**
बाग तुरंग जानु गहि लीन्हा॥

(3) *जायसी ने पद्मावती की नासिका को खड्ग, तोता, तिल के फूल से भी अधिक सुंदर बताते हुए कहा है कि समस्त फूल इस आशा में अपने सुंदर सुगंधि धारण करते हैं कि शायद वह हमें अपनी अनुपम नासिका से लगाकर हमारी सुगंधि ग्रहण कर ले-*

पुहुप सुगंध करहिं एहिआसा। मकु हिरकाइ लेइ हम्ह पासा।

(4) *पद्मावती के ओठों का सौंदर्य भी विलक्षण है-*

अधर सुरंग अमिय रस भरे। बिम्ब सुरंग लाज बन फरे॥

लौकिक द्वारा अलौकिक व्यंजना

जायसी के रूप चित्रण में पद्मावती के रूप में अलौकिक सौंदर्य के भी संकेत मिल जाते हैं। डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार-इस दृष्टि से 'नख-शिख-खंड' के चार स्थल विशेष रूप से महत्वपूर्ण बन पड़े हैं।

माँग वर्णन में कवि ने ब्रह्म के विराट महत्व की ओर, केश-वर्णन में अज्ञान के अंधकार की ओर, भ्रू-वर्णन तथा बरूनी-वर्णन में ब्रह्म की मोहिनी शक्ति की ओर और दंत-वर्णन में दिव्य तेज की ओर संकेत किया है। यहाँ पर प्रस्तुत अंश इसी धारणा की ओर संकेत करते हैं-

(1) **ब्रह्म सत्ता के विराट महत्व की ओर संकेत-**

करवत तपा लेहिं होइ चूरू।
मकु सो रूहिर लेइ देइ सिंदूरू॥

(2) **अज्ञान के अंधकार की ओर संकेत-**

बेनी छोरि झारि जो बारा।
सरग पतार होइ अंधियारा।

(3) **ब्रह्म की मोहिनी शक्ति की ओर संकेत-**

उन्ह बानन्ह अस को जो न मारा?
बेधि रहा सगरो संसारा।
गगन नखत जो जाहिं न गने।
वै सब बान ओहि के हने॥

(4) **दिव्य तेज की ओर संकेत-**

रवि ससि नखत दिपहिं ओहि जोती।
रतन पदारथ मानक मोती॥

जहं जहं बिहंसि सुभावहिं हँसी।
तहं तहं छिटकि जोति पर गसी॥

रसात्मकता में बाधा- इतना सब होते हुए भी जायसी का रूप चित्रण कहीं-कहीं ऐसा भी बन पड़ा है जहाँ रसात्मकता में बाधा उपस्थित होती प्रतीत होती है। यह स्थिति दो कारणों से उभरी है-

(i) **अतिश्योक्तिपूर्ण रूप चित्रण-** जायसी का रूप चित्रण कहीं-कहीं अत्युक्तिपूर्ण भी हो उठा है। इसमें कोई संदेह नहीं है कि अत्युक्ति भी एक अलंकार है और यह भी ठीक ही है कि सौंदर्य-वर्णन के प्रसंग में कवियों की वाणी प्राय: अत्युक्तिपूर्ण हो जाती है, किन्तु वह और भी ज्यादा ठीक है कि श्रृंगार के स्थान पर हास्य उत्पन्न करने वाली अत्युक्ति, अलंकार की सीमा में नहीं आ सकती। यथा-

अगिनी बान जानौं तिल सूझा।
एक कटाछ लाख दस जूझा॥

(ii) **फारसी शैली का प्रभाव-** फारसी शैली के प्रभाव ने भी रसात्मकता में बाधा ही उत्पन्न की है। डॉ. रस्तोगी की मान्यता है कि रसोन्मेष की प्रक्रिया अपने में चेतन से अधिक, अचेतन प्रक्रिया है और इसलिए संस्कारों के विरुद्ध पड़ने वाले अप्रस्तुत से वाणी में दोष आ जाने की संभावना बराबर बनी रहती है। 'नख-शिख-खंड' में कई स्थल पर ऐसा हो उठा है। वहाँ जायसी जाने या अनजाने, ऐसे फारसी उपमान उपस्थित कर गये हैं जो भारतीय चेतना के विपरीत पड़ते हैं। उन स्थलों पर रस-भंग हो जाना स्वाभाविक ही है। दो उदाहरण यहाँ इसी प्रकार के प्रस्तुत हैं-

(1) **खाँडै धार रूहिर जनु भरा।**
करवत लेइ बेनी पर धरा॥

(2) **जानौं रक्त हथोरी बूड़ी। रवि-परभात तात वै जूड़ी॥**
हिया काढ़ि जनु हीन्हेसि हाथा। रूहिर भरी अंगुरी तेहि साथा॥

उपसंहार- यह संक्षिप्त विवरण यह स्पष्ट करता है कि समग्र रूप से जायसी का रूप-वर्णन अत्यंत सफल बन पड़ा है। सच तो यह है कि 'पद्मावत' की प्रसिद्धि का एक कारण यह रूप-वर्णन भी है। इस रूप वर्णन की दो विशेषताओं की ओर डॉ. देवीशरण रस्तोगी ने संकेत किया है-कवि का स्थान-स्थान पर सौंदर्य के विराट रूप की ओर साफ तथा सुथरे ढंग से संकेत कर पाना और नायिका के अंग-प्रत्यंग के लौकिक सौंदर्य तथा उसके मादक प्रभाव को सरस तथा सजीव ढंग से उपस्थित करना। इनमें से प्रथम विशेषता तो जायसी के रूप-वर्णन की अपनी मौलिक विशेषता है और दूसरी में उन्होंने यद्यपि परंपरागत उपमानों से ही काम लिया है किन्तु आचार्य रामचंद्र शुक्ल के शब्दों में कवि की भोली-भाली और प्यारी भाषा के बल से यह श्रोता के हृदय को सौंदर्य की अपरिमित भावना से भर देते हैं।

जायसी ने जिस परिमाण में और जिस ढंग से रूप का चित्रण किया है, वह यह स्पष्ट संकेत देता है कि जायसी में जहाँ सौंदर्य का सूक्ष्म चित्र उतारने की क्षमता थी वहीं उस चित्र को अधिकाधिक रसात्मक बना देने की भी पर्याप्त सामर्थ्य थी।

इकाई-तीन

हिन्दी साहित्य के आदिकाल की परिस्थितियों का संक्षिप्त परिचय

आदिकाल की पृष्ठभूमि एवं परिस्थितियां

किसी भी युग का साहित्यकार अपने युग की राजनीतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं साहित्यिक परिस्थितियों से प्रभावित होता है। उन परिस्थितियों का समन्वित प्रभाव परोक्ष तथा प्रत्यक्ष रूप से उसके मानस में पूंजीभूत होता है, जो कालांतर में उसके काव्य ग्रंथों में प्रस्फुटित होता है। इसी कारण साहित्य को समाज का दर्पण या प्रतिबिम्ब कहा गया है। साहित्य लोक चेतना का उद्‌घाटन करता है। इस तरह वीरगाथाकालीन परिस्थितियों का आकलन जरूरी है।

(1) **राजनीतिक परिस्थितियां-** राजनीतिक दृष्टि से यह युग सामंतवादी था, जिसमें भारत का अखंडत्व छिन्न-भिन्न हो गया था और अनेक राजपूत वंशों ने अपने स्वतंत्र राज्यों की स्थापना कर ली थी। इनमें चंदेल, कलचुरि, प्रतिहार, परमार और चौहान राजवंश प्रमुख थे। राजपूतों के खंड राज्य परस्पर ईर्ष्या एवं द्वेष से अभिभूत थे, जिनमें देश भक्ति का सर्वथा अभाव था। वे संगठित होकर विदेशी आक्रामकों का सामना नहीं करते थे। अपने रक्त का अभिमान उनमें इतना प्रबल था कि प्रत्येक राजवंश, दूसरे को अपने से हीन समझता था। आभिजात्य की यह भावना ही कभी-कभी युद्ध का आह्वान करती थी। वंशगत अभिमान के अतिरिक्त उन्हें शौर्य प्रदर्शन का भी व्यसन था। इतिहास साक्षी है कि उस समय कुछ युद्ध शक्ति प्रदर्शन मात्र के लिए ही हुए थे। राजकुमारियों के स्वयंवर तक कभी-कभी रक्त में आरंजित हो जाते थे। शक्ति या शौर्य का जितना अपव्यय इस युग में हुआ, उतना अन्यत्र दुर्लभ है। दु:ख का विषय यह है कि इन राजपूत नरेशों ने शक्तिशाली होते हुए भी संगठित होकर मुसलमान आक्रमणकारियों का कभी सामना नहीं किया। महमूद गजनवी ने एक-एक करके सभी राजपूत नरेशों को पराजित किया, भारत की संपत्ति को लूटा, सोमनाथ के मंदिर को नष्ट किया और वहां की संपत्ति को ऊंटों पर लादकर गजनी ले गया। मुहम्मद गौरी ने इन वंशों को और जर्जर कर दिया। जयचंद ने स्वयं मुहम्मद गौरी को पृथ्वीराज पर आक्रमण करने के लिए आमंत्रित किया था। तराइन के युद्ध में पृथ्वीराज चौहान की पराजय हुई और इस प्रकार हिन्दू राज्य का अंतिम आशा दीप भी बुझ गया।

(2) **सामाजिक परिस्थितियां-** इस समय सामाजिक स्थिति भी अच्छी नहीं थी। आए दिन विदेशियों के आक्रमणों से लोक-जीवन एवं लोक-संपत्ति अरक्षित थी। वर्ण-व्यवस्था शिथिल होती जा रही थी। ब्राह्मणों का सम्मान गिरता जा रहा था और युद्ध प्रिय क्षत्रियों का उत्कर्ष हो रहा था। अंधविश्वासों तथा रूढ़ियों का लोकमानस पर अखंड साम्राज्य था। राष्ट्रीयता का अभाव था। राजपूत नरेश तथा दरबारी विलासप्रिय जीवन व्यतीत करते थे।

(3) **धार्मिक परिस्थितियां-** इस समय भारत में जैन, बौद्ध तथा ब्राह्मण धर्म का प्रचार था। सम्राट हर्षवर्धन के अनंतर बौद्ध तथा जैन धर्मों का ह्रास हो रहा था। हिंसा प्रिय राजपूत नरेशों की छत्रछाया में ब्राह्मण धर्म का उत्कर्ष हो रहा था, जिसमें क्षत्रियों को मृगया की स्वीकृति थी और युद्ध क्षात्र धर्म समझा जाता था। ब्राह्मण धर्म, शैव, वैष्णव तथा शाक्त तीन भागों में विभाजित था। उक्त तीनों संप्रदायों में पशु-बलि, योग तथा तांत्रिकता के लिए अवकाश था। शंकराचार्य तथा रामानुजाचार्य ने पुन: वैदिक धर्म के उत्थान के लिए प्रयास किया था। संक्षेप में इस काल की धार्मिक स्थिति भी शोचनीय थी।

(4) **साहित्यिक परिस्थितियां-** इस युग के अधिकांश कवि चारण थे, जिन्हें राज्याश्रय प्राप्त था। वे राजपूत नरेशों के दरबारी कवि थे और अपने-अपने आश्रयदाताओं का यशगान करते थे। यही उनका कवि कर्म था। उनकी रचनाएं वीररसपरक होने के साथ ही श्रृंगारपरक भी होती थीं। युद्ध काल में तथा युद्ध से पूर्व वे अपनी वीररस प्रसविनी लेखनी द्वारा सैनिकों के रक्त में शौर्य एवं साहस का संचार करते थे। कभी-कभी तो ये चारण कवि युद्धों में अपनी तलवार का चमत्कार तक दिखाते थे। मृत्यु के समय ये कवि अपने काव्य ग्रंथों को पैतृक संपत्ति के रूप में अपनी संतति को सौंप जाते थे जो बाद में उनमें परिवर्द्धन करते रहते थे। साहित्य सृजन एक व्यवसाय था। इनका काव्य राष्ट्रीय कम तथा वैयक्तिक अधिक था। लोक चेतना की इन्होंने उपेक्षा की थी। संक्षेप में, आदिकाल का साहित्य एकांगी तथा संकीर्ण था।

आदिकाल में दो प्रकार के काव्य ग्रंथ मिलते हैं-अपभ्रंश के ग्रंथ तथा देश भाषा ग्रंथ। अपभ्रंश या प्राकृत भाषा यद्यपि उस समय जनभाषा तो नहीं थी, किन्तु कवियों की काव्य भाषा अवश्य थी। पंडित रामचंद्र शुक्ल ने इन ग्रंथों को उपदेशपरक होने के कारण साहित्य ग्रंथों की कोटि में स्वीकार नहीं किया। सिद्ध साहित्य तथा नाथ-साहित्य इसी भाषा के अंतर्गत हैं। इन काव्य ग्रंथों का हिन्दी साहित्य पर पर्याप्त प्रभाव पड़ा है। बाद के भक्तिकालीन कवि कबीर पर भी नाथ संप्रदाय का स्पष्ट प्रभाव था। अत: साहित्यिक परिस्थितियों के संदर्भ में उक्त दोनों संप्रदायों की चर्चा कर देना भी समीचीन था।

(5) **आर्थिक परिस्थिति-** तत्कालीन समाज स्पष्टत: दो वर्गों में बंटा था-उच्च और निम्न या शासक तथा शासित उच्च शासक वर्ग सर्वसाधन संपन्न था और साथ ही साथ आर्थिक शोषणकर्ता भी। दूसरी ओर जन-सामान्य की स्थिति दयनीय थी। वह दोशीय और विदेशी दोनों ही प्रकार के अत्याचारों की शिकार थी, दोनों ही ओर से पीसी जाने वाली। राजनैतिक और धार्मिक दोनों ही ओर से उसका निर्बाध शोषण किया जाता था जिसका एक परिणाम उसका मन ही मन विद्रोही बनने लगना भी था।

(6) **सांस्कृतिक परिस्थिति-** विवेचन्य गुण को एक उच्च तथा परिपक्व संस्कृति विरासत में मिली थी। उसी का अनुकरण इस युग में भी किया गया। इस समय की सुंदर स्थापत्य कला, संगीत प्रेम और अजंता एलौरा वाला कला प्रेम आदि इसी उच्च संस्कृति की देन थे। दूसरी ओर, इस्लाम प्रवेश के साथ-साथ इस्लामी संस्कृति का भी भारत में प्रवेश हुआ था।

हिन्दी के आदिकाल के विभिन्न नाम और आचार्यों के मत

1. 'उस समय जो भाट, चारण किसी राजा के पराक्रम, विजय, शत्रु-कन्या हरण आदि का अत्युक्तिपूर्ण आलाप करता या रण क्षेत्रों में जाकर वीरों के हृदय में उत्साह की उमंगें भरता था, वही सम्मान पाता था।इस समय तो वीरगाथाओं की उन्नति सम्भव थी। जैसे यूरोप वीरगाथाओं का प्रसंग युद्ध और प्रेम रहा, वैसे यहां भी था।' - आचार्य शुक्ल

2. 'इस युग के अन्तर्गत उन्होंने जिन रचनाओं को स्थान दिया है उनमें अधिकांश सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक में रचित हैं और जो रचनाएं इस काल की सीमा में आती हैं, उनमें किसी का भी रचयिता कोई चारण नहीं है।' - **डा. गणपति चन्द्र गुप्त**

आदिकाल के विभिन्न नाम

हिन्दी साहित्य का आरम्भिक काल जिसे विद्वानों ने आदिकाल, वीरगाथा काल, चारणकाल, रासोकाल, अपभ्रंशकाल आदि अनेक नामों ने सम्बोधित किया है - हिन्दी का सर्वाधिक विवादग्रस्त काल है। अतएव इसके नामकरण के प्रसंग में विचार अपेक्षित हैं।

मिश्र बन्धुओं एंव आचार्य शुक्ल के मत - सर्वप्रथम मिश्र बन्धुओं ने इस पर विचार किया और इसे 'आदिकाल' के नाम से अभिहित किया। तदुपरान्त वीरगाथों की प्रधानता देखकर आचार्य शुक्ल ने इसे वीरगाथा काल कहा।

शुक्लजी के इस नामकरण के सन्दर्भ में तीन बातें विशेष उल्लेखनीय हैं -

(क) *प्रथमतः उन्होंने इस काल में वीरगाथात्मक रचनाओं की प्रधानता मानी है।*

(ख) *नाथ-पंथी, योगियों व सिद्धों की कृतियों को उन्होंने शुद्ध साहित्य में स्थान नहीं दिया।*

(ग) *जैनों द्वारा रचित साहित्य को मार्मिक साहित्य कहकर उसे रचनात्मक साहित्य की सीमा से निकाल दिया।*

1. **आचार्य शुक्ल के मत की समीक्षा** - शुक्ल जी के मतानुसार इस युग में दो प्रकार की रचनायें उपलब्ध होती हैं। प्रथम अपभ्रंश की और द्वितीय देश भाषा की। अपभ्रंश की केवल चार रचनायें उपलब्ध हैं। ये हैं - 'विजयपाल रासो', हम्मीर रासो, कीर्तिपताका व कौतिलता, देश की आठ साहित्यिक रचनायें यथा - खुमान रासो, पृथ्वीराज रासो, बीसलदेव रासो, जयचन्द प्रकाश, जयमयंक जसचन्द्रिका, परमाल रासो, खुसरो की पहेलियां और विद्यापति पदावली मानी जाती हैं। इस युग को वीरगाथाकाल कहना ही समीचीन है। किन्तु वास्तविकता इससे परे है। क्योंकि खुमान रासो और परमाल रासो को परवर्ती युग की रचना सिद्ध किया जा चुका है और पृथ्वीराज रासो अर्धप्रमाणिक रचना माना जाता है। इतना ही नहीं, विजयपाल रासो तथा हम्मीर रासो की प्रमाणिकता भी संदिग्ध ही है। खुसरों की पहेलियां में वीरगाथात्मक कोई प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। शेष रही विद्यापति की पदावली जिसकी भावभूमि रसराज श्रृंगार से अनुप्राणित है, उसमें राधाकृष्ण के श्रृंगारी चित्र ही अंकित हैं। अतएव आचार्य शुक्ल ने जिन कृतियों के आधार पर इसे वीरगाथाकाल कहना उपयुक्त समझा था, उन कृतियों की प्रामाणिकता के अभाव में उनके द्वारा प्रतिपादित नामकरण भी वास्तविकता से परे प्रतीत होता है।

2. **डा. रामकुमार वर्मा का अभिमत एवं उसकी समीक्षा** - शुक्लजी ने इस साक्ष्य पर कि वीरगाथाओं के प्रणेता राज्याश्रित चारण थे, इस युग को चारणकाल कहना अधिक उपयुक्त माना है। डा. वर्मा के मत का खण्डन करते हुए डा. गणपतिचन्द्र गुप्त लिखते हैं कि इस युग के अन्तर्गत उन्होंने (वर्मा जी) जिन रचनाओं को स्थान दिया है उनमें से अधिकांश सोलहवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक में रचित हैं और जो रचनायें इस काल की सीमा में आती हैं उनमें किसी का भी रचयिता कोई चारण नहीं है। इस प्रकार डा. गुप्त के अनुसार इस काल का नाम चारण काल असंगत प्रतीत होता है। चारण काल की ही भांति इसे रासोकाल कहना भी अनुपयुक्त होता है क्योंकि प्रथमतः एक तो रासो ग्रन्थ संख्या में भी अल्प ही हैं, फिर रासो कहने से केवल एक विशेष प्रकार की रचनाओं का ही बोध होता है अन्य कृतियां छूट जाती हैं।

3. **आचार्य महावीर प्रदास द्विवेदी का मत और उसकी समीक्षा** - द्विवेदीजी ने इस काल को बीजवपन काल की संज्ञा से विभूषित किया है। वास्तव में यह नाम भी उचित नहीं प्रतीत होता है, क्योंकि इस काल में अपने पूर्ववर्ती साहित्य की प्रायः सभी काव्य रूढ़ियों का सफल निर्वाह हुआ है और साथ ही कुछ नवीन साहित्यक पद्धतियों का भी विकास हुआ है। अतएव इस काल के साहित्य पर 'Literature in fancy' की उक्ति चरितार्थ नहीं होती।

4. **राहुल सांस्कृत्यायन का मत और उसकी समीक्षा** - सांस्कृत्यायन जी ने इस काल को सिद्ध सामन्त काल कहा है, क्योंकि उन्होंने इस काल के साहित्य में केवल सामन्तों की स्तुति तथा सिद्धों की वाणी नामक मात्र दो प्रवृत्तियां ही प्रमुख मानी हैं। लेकिन ज्ञातव्य है कि इस काल विशेष में सिद्धों के अतिरिक्त जैन कवियों ने भी महत्वपूर्ण रचनायें प्रस्तुत की हैं। व्यापकता एवं प्रभाव की दृष्टि से जैन कवियों का यह साहित्य कहीं अधिक महत्वपूर्ण है।इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि इस काल को 'सिद्ध सामन्त' युग कहना उचित नहीं है।

5. **डा. हजारी प्रसाद का मत** - इस काल के नामकरण के सन्दर्भ में डा. द्विवेदी का मत सर्वथा समीचीन प्रतीत होता है। उन्होनें मिश्र बन्धुओं द्वारा रखा गया नाम 'आदिकाल' ही स्वीकार किया है। 'हिन्दी साहित्य का आदिकाल' तथा 'हिन्दी साहित्य' नामक अपनी दोनों कृतियों में वे इसे 'आदिकाल ' ही स्वीकारते हैं। 'आदिकाल' स्वीकार कर लेने के उपरान्त भी वे इस नाम से पूर्णत: सन्तुष्ट प्रतीत नहीं होते। वे स्पष्ट लिखते हैं कि 'वस्तुत: हिन्दी का आदिकाल एक प्रकार की भ्रामक धारणा की सृष्टि करता है और श्रोता के चित्त में यह भाव पैदा करता है कि यह काल कोई आदिम मनोभावनापन्न, परम्परा विनिर्युक्ति, काव्य रूढ़ियों के अछूते साहित्य का काल है, यह ठीक नहीं है। यह काल बहुत अधिक परम्परा प्रेमी रूढ़िग्रस्त, सजग और सचेत कवियों का काल है।'

निष्कर्ष

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आलोच्य काल के नामकरण के सम्बन्ध में पर्याप्त मतान्तर है। किसी एक सर्वमान्य नामकरण के लिए पर्याप्त अनुसंधान अपेक्षित है, किन्तु जब तक एक सन्तोषजनक नाम पर न पहुँचा जाय तब तक के लिए आदिकाल नाम ही अधिक उचित प्रतीत होता है।

आदिकालीन साहित्य का वर्गीकरण और विशेषतायें

आदिकालीन साहित्य की प्रवृत्तियों का लेखा-जोखा करने के लिए निम्नलिखित रचनाओं को आधार बनाया जा सकता है। आचार्य शुक्ल ने जिन बारह पुस्तकों को आधार बनाया था, उनमें अपभ्रंश की रचनायें भी सम्मिलित थीं - 1. पृथ्वीराज रासो 2. परमाल रासो या आल्हा खण्ड 3. विद्यापति पदावली 4. कीर्तिकला 5. कीर्तिपताका 6. सन्देश रासक 7. पउम चरित्र 8. भविष्यत्त कथा 9. परमात्मा प्रकाश 10. बौद्ध गान और दोहा 11. स्वयंभू छंद 12. प्राकृत पैंगलम्

इन रचनाओं से आदिकालीन साहित्य की मुख्य पांच प्रवृत्तियां स्पष्ट होती हैं -

1. सिद्ध साहित्य 2. नाथ साहित्य 3. जैन साहित्य 4. वीर गाथा साहित्य 5. भक्ति श्रृंगार तथा अन्य भाव सम्बन्धी रचनाएँ।

सिद्ध साहित्य और उसकी विशेषताएं

वैदिक धर्म के कर्म-काण्ड और बाह्याचारों के विरोध में बौद्ध धर्म का उदय हुआ था। कालांतर में स्वयं बौद्ध मत उन अनेक बुराइयों और विवाद का शिकार हो गया, जिनके विरुद्ध इसने मोर्चा लिया था। ईसा की प्रथम शताब्दी में बौद्ध धर्म हीनयान और महायान दो शाखाओं में बंट गया। हीनयान बौद्ध धर्म के सिद्धान्तों के प्रति आस्थावान रहा, जबकि महायान व्यवहार पक्ष को महत्व देने लगा। हीनयान में केवल विरक्तों और सन्यासियों को ही आश्रय दिया गया और महायान गृहस्थों, सन्यासियों, छोटे-बड़े सबको मोक्ष दिलाने का दावा करने लगा। बौद्ध धर्म अपनी चरम उन्नति के शिखर से गिरने लगा। गुप्त सम्राटों ने हिन्दू धर्म में अपनी आस्था व्यक्त करके बौद्ध धर्म को धक्का पहुंचाया। रही-सही शक्ति को कुमारिल भट्ट और शंकराचार्य ने नष्ट कर दिया। यह धर्म भारत से निर्वासित हो गया। इसे तिब्बत, नेपाल और जापान में ही शरण मिल सकी। शंकर के शैव मत से प्रभावित होकर इस धर्म ने जनता को अपनी ओर आकर्षित करने के लिए तंत्र-मंत्र और अभिचार का मार्ग अपनाया। कर्मकाण्डों का विरोधी धर्म स्वयं समाधि, मन्त्र-तन्त्र, डाकिनी-शाकिनी, भैरवी चक्र, मद्य-मैथुन में उलझ गया और सदाचार से हाथ धो बैठा। नास्तिक धर्म ने बुद्ध की भगवान रूप से पूजा प्रारम्भ कर दी। इस धर्म में निवृत्ति का स्थान प्रवृत्ति ने ले लिया तथा संयम के स्थान पर सुख प्राप्ति लक्ष्य बन गया। महायान शाखा मंत्रयान में बदल गई

तथा मंत्रयान से वज्रयान और सहजयान का प्रादुर्भाव हुआ। वज्रयान और सहजयान में पाण्डित्य का कोई स्थान नहीं रहा। डा. रामकुमार वर्मा का मत है 'बाद में जब मंत्रयान में मद्य और मैथुन का प्रवेश हुआ तो वही वज्रयान में परिवर्तित होता है। इस प्रकार वज्रयान में मंत्रयान के मंत्र और हठयोग के साथ मद्य और मैथुन को जोड़ दिया गया और महायान अपने 800 वर्ष के जीवन क्रम से वज्रयान होकर सदाचार से हाथ धो बैठा।'

सिद्ध साहित्य को तीन भागों में बांटा जा सकता है - 1. नीति या आचार सम्बन्धी रचनाएं 2. उपदेशपरक रचनाएं 3. साधन सम्बन्धी या रहस्यवादी रचनाएं।

नीति या आचार **रागदेश मोह लाईऊ छार। परम मोख लवए मुक्तिहार॥**

उपदेश **भाव न होई अभावण जाइ। अइस संबोहे को पति आइ?**

साधना **जहि मन पवन न संचरइ, रवि ससि नहिं प्रवेश।**
तहि घट चित्त विसाम कर, सहरे कहिऊ उवेस।

सिद्ध साहित्य की विशेषताएँ -

सिद्ध साहित्य के अनुशीलन से उसकी निम्नलिखित विशेषताएं परिलक्षित होती हैं -

1. तान्त्रिक साधना में सिद्धान्त पक्ष के स्थान पर आचरण पक्ष पर अधिक बल दिया गया है।
2. इन सम्प्रदायों में देवता, मन्त्र व तत्व निरूपण शब्दावली भिन्न है, किन्तु सब की साधना पद्धति समान है।
3. इस साधना पद्धति में शिव और शक्ति की मिथुनरत युगबद्धता की स्वीकृति है, ये गुह्याचारों पर विश्वास करते हैं।
4. उपनिषदों में ब्रह्मानन्द को सहवास सुख से सौ गुना कहा गया है जबकि सिद्धों ने उसे सहवास के सुख के समान बताया है।
5. इन सम्प्रदायों में योग साधना पर बल दिया गया है। ब्रह्माण्ड में जो शिव और शक्ति है वही शरीर में सहस्त्रधार कुंडलिनी है।
6. इन्होंने ब्राह्मण धर्म तथा वैदिक धर्म का खण्डन किया है।
7. तंत्र-मंत्र के द्वारा ये चमत्कार उत्पन्न करके लोगों को प्रभावित करना चाहते थे।
8. ये सिद्ध मृत्यु - पर्यन्त मोक्ष प्राप्त करने की अपेक्षा जीवन में सिद्धियां प्राप्त करना श्रेयस्कर समझते थे।
9. इन सम्प्रदायों में जाति पांति और वर्ण भेद का विरोध किया गया है।

नाथ साहित्य और उसकी विशेषताएं

नाथ सम्प्रदाय का विकास बौद्धों की वज्रयान-सहजयान शाखा से ही हुआ है। स्वयं गोरखनाथ को चौरासी सिद्धों में गोरक्षपा नाम से स्थान दिया गया है। सिद्धों की परंपरा से हटकर गोरखनाथ ने स्वतंत्र नाथ पंथ का प्रचार प्रसार किया। वज्रयान की अश्लीलता तथा वीभत्स विधानों से दूर रहने वाले हिन्दू योगियों ने नाथ - पंथ का प्रवर्तन किया। नाथ पंथ शैवमत का पोषक है। यह पंथ सिद्धों और संतों के बीच की कड़ी है। सिद्धों के मार्ग पर तो ये लोग चले नहीं किन्तु उसमें पर्याप्त संशोधन करके नाथों ने अपनाया, जिससे संतों के लिए राजमार्ग तैयार हो गया है। नाथ सम्प्रदाय पर कौल सम्प्रदाय का प्रभाव पड़ा है, कौलों की अष्टांग योग पद्धति के ये विरोधी रहे हैं। सिद्धों का प्रभाव भारत के पूर्वी भाग पर था किन्तु नाथों का प्रभाव क्षेत्र भारत का पश्चिमी भाग - राजस्थान, पंजाब रहा है।

नाथ पंथ के अनुयायी सैद्धान्तिक रूप से शैवमत के अनुयायी थे और व्यवहार में हठयोग से प्रभावित। इनकी ईश्वर सम्बन्धी भावना शून्यवाद में है जो वज्रयान से ली गई है। कबीर इसी शून्य को सहज, सुन्न, सहस्त्रदल आदि नामों से पुकारते थे। नाथों ने निवृत्ति पर अधिक बल दिया था। वैराग्य को ही ये मुक्ति का साधन मानते थे। वैराग्य गुरु द्वारा ही प्राप्त होता है अत: इस सम्प्रदाय में गुरु का बहुत महत्व है। इनके आध्यात्मिक संकेत रहस्यात्मक शैली में हैं। उलट बांसियों, प्रतीकों और रूपकों में नाथों ने अपने रहस्य संकेत दिये हैं जिन्हें समझना सामान्य व्यक्ति के लिए कठिन है। इन्द्रिय विग्रह की साधना के लिए गोरखनाथ तथा अन्य नाथों ने नारी से दूर रहने का उपदेश दिया है। कबीर का नारी निन्दा प्रकरण इन्हीं नाथों की प्रभावी देन है। इन्द्रिय निग्रह से आगे प्राण साधना और उससे भी आगे मन: साधना इनका लक्ष्य था। बाह्य जगत से खींचकर मन को अन्तर्जगत की ओर प्रवृत्त करना ही मन: साधन है। इसके लिए नाथों ने कुछ साधन बताए हैं, जैसे नाड़ी-साधन, कुण्डलिनी, इंगला पिंगला और सुषम्ना को जगाना, षटचक्र, सूरत योग, अनहद नाद आदि। शिव और शक्ति को मूल तत्व मानकर नाथों ने ब्रह्मचार के आडम्बरों का खण्डन किया है।

जैन साहित्य और उसकी विशेषताएं

भगवान बुद्ध ने जिस प्रकार बौद्ध धर्म का प्रवर्तन किया था उसी प्रकार भगवान महावीर ने जैन धर्म का प्रवर्तन कर प्रचार किया था। जैन धर्म हिन्दू धर्म के समीप है। जैन धर्म के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व तो है किन्तु वह सृष्टि का नियामक नहीं है। मनुष्य अपने कर्मों से ही साधना द्वारा स्वयं परमात्मा बन सकता है। इस धर्म ने जीवन के प्रति आस्था और दृढ़ता का भाव जगाया। अहिंसा, करुणा, दया, त्याग, तपस्या का प्रचार प्रसार किया। उपवास, व्रत तथा कृच्छ साधना पर अधिक बल दिया गया है। कर्मकाण्डों से परे जाति वर्ण भेद से परे सबको मुक्ति का अधिकार प्राप्त करने का संदेश जैन धर्म देता है। यों तो उत्तर भारत में जैन धर्म के अनुयायी सर्वत्र ही हैं किन्तु आठवीं से तेरहवीं शती तक गुजरात में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव था। जैन मुनियों ने अपभ्रंश में अपनी रचनाएं लिखी थीं जो अधिकतर धार्मिक हैं। अहिंसा, कष्ट-सहिष्णुता, विरक्ति और सदाचार इनका कथ्य है। कुछ गृहस्थ जैन कवियों ने व्याकरण आदि ग्रन्थों की रचना की जिनमें साहित्यिक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं। हिन्दू पुराणों और महाकाव्यों के नायक राम-कृष्ण को अपने सिद्धान्तों के अनुरूप बनाकर इन जैन कवियों ने प्रस्तुत किया है। लोक प्रचलित विश्वासों और आख्यानों को भी जैन धर्म के रंग में रंगकर इन कवियों ने प्रस्तुत किया है। ये जैन कवि सामान्यत: उच्च वर्ग के थे अत: इनमे किसी वर्ग के प्रति कटुता का भाव नहीं है। जैन कवियों में स्वयंभू बहुत प्रसिद्ध हैं जिन्होंने पउम चरिउ (पदम-चरित्र) यानी राम कथा का सृजन किया। पुष्पदन्त ने नागकुमार चरित्र तथा यशोधर चरित्र की रचना की। धनपाल ने भविष्यत कथा, रामसिंह ने पाहुड दोहा, हेमचन्द्र ने शब्दानुशासन आदि ग्रन्थों की रचना करके आदिकाल की साहित्य सम्पन्नता में वृद्धि की।

वीरगाथात्मक साहित्य और उसकी विशेषताएं

यह काल भारतीय इतिहास में युद्ध और अशांति का काल था। राजनीतिक दृष्टि से पतनोन्मुख सामाजिक रूप से दीन-हीन तथा धार्मिक दृष्टि से अवनति का काल था। सिद्ध, नाथ और जैन कवियों की धार्मिक आध्यात्मिक रचनाओं के साथ राजस्थान में चारण-कवियों ने अपने आश्रयदाता राजाओं की वीरता का गुणगान करने के लिए वीरगाथाओं की रचना की। यह समय भी ऐसा था, जिनमें वीरगाथाएं ही जन-रुचि तथा देश की पृष्ठभूमि के अनुकूल प्रश्रय पा सकती थीं। किसी राजकन्या के सौन्दर्य का समाचार पाकर सैन्य आक्रमण द्वारा सुन्दरी का अपहरण करना, रक्तपात करना और फिर विजित वस्तु की तरह सौन्दर्य का उपभोग करना यही वीरगाथाओं का कथ्य श्रृंगार रहा है। श्रृंगार के लिए वीर भाव की सृष्टि इन काव्यों में हैं। एक ओर विदेशी आक्रमणों

के कारण राजनीतिक युद्ध होते थे तो दूसरी ओर प्रेम श्रृंगार के लिए कल्पित गाथाएँ भी इस काल के कवि गढ़ते थे।

ये वीर गाथाएं दो रूपों में मिलती हैं, प्रबंध रूप में और वीर गीतों के रूप में। खुमान रासो (दलपति विजयकृत), पृथ्वीराज रासो (चन्दबरदाई कृत), हम्मीर रासो (शीरगंधर कृत), जयचन्द्र प्रकाश (भट्ट केदार कृत), जयमयंक जस चन्द्रिका (मधुकर कवि कृत), आदि प्रबंध रूप में हैं तथा आल्हा खण्ड या परमाल रासो (जागनिक कृत), वीसलदेव रासो (नरपति नाल्ह कृत) वीर गीतों से युक्त मुक्तक रूप में हैं।

सिद्ध साहित्य का संक्षेप में परिचय एवं प्रमुख विशेषतायें

सिद्धों की संख्या 84 मानी गई है। उनमें से कुछ तो सहजयानी और कुछ वज्रयानी थे। सहजयान का प्रवर्तन बौद्ध धर्म (वज्रयान) में प्रचलित बाह्याचार के विरुद्ध जन्म लेने वाली प्रतिक्रिया की देन था। जीवन के सहज रूप को स्वीकार करने के कारण सहजयान में जीवन के भोग के लिए बहुत स्थान सुरक्षित था। वज्रयानियों ने भोग की इस प्रवृत्ति को घोर श्रृंगारिकता के समीप ला खड़ा किया था। हर्ष का विषय है कि हिन्दी काव्य वज्रयानी घोर श्रृंगारिकता से बच निकला। यह सहजयान से भी प्रभावित हुआ। सहजयान की प्रमुख धारणाएं चार थीं-

(1) चित्तशुद्धि तथा आत्मनिग्रह में अटूट आस्था।

(2) रहस्यवाद।

(3) पूरी अक्खड़ता के साथ अन्य संप्रदायों का खण्डन-मण्डन।

(4) सर्व प्रकार के बाह्याडम्बर का कट्टर विरोध।

राहुल जी ने अपनी 'हिन्दी काव्यधारा' में इन सिद्धों की रचनाओं को प्रकाशित करके हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इनकी ओर आकर्षित किया। इनमें सबसे पहला कवि सरहपा है। (जिनका ससेजव्रह नाम भी है।) राहुल जी के अनुसार इनका काल सं. 817 है। राहुल जी ने इन सिद्धों की भाषा को लोक भाषा के अधिक समीप देखकर इसे हिन्दी का प्राचीन रूप माना। इसी आधार पर काशीप्रसाद जायसवाल ने सिद्ध सरहपा को हिन्दी का प्रथम कवि मान लिया। डॉ. जयकिशन प्रसाद के अनुसार प्रमुख सिद्ध नाथ हैं-सरहपा, सबरवा, भूसुकया, लुइया, विरुपा, डोंबिया, दारिकया, गुण्डरीपा, गोरसपा, टेण्टणवा, महीपा, भादेवा, तिलोमा, शात्तिवा, कुवुरिया, कमरिया, कण्हपा।

सिद्ध साहित्य की प्रवृत्तियाँ

इन रचनाओं को देखने से पता चलता है कि इनकी शैली उलटबाँसी शैली है। ऊपर से इन रचनाओं का बड़ा कुत्सित अर्थ निकलता है किन्तु संप्रदाय के जानकार उसके मूल एवं साधनात्मक अर्थ को समझने में समर्थ हो सकते हैं। डॉ. जयकिशन प्रसाद ने इन प्रवृत्तियों का उल्लेख निम्न प्रकार किया है-

(1) **बाह्याचार खण्डन-** इन्होंने बाह्याचार का खण्डन करते हुए चित्तशुद्धि तथा आत्मनिग्रह में अटूट आस्था प्रकट की। अत: साधना पर जोर देते हुए पण्डितों को फटकारते हुए शास्त्रीय (परंपरा) मार्ग का खण्डन किया है-

जहणग्गाविअ होई मुत्ति, ता सुणह सियालह।

अर्थात् नग्न रहने से मुक्ति मिल जाती तो कुत्ते और स्यार भी मोक्ष (मुक्ति) के अधिकारी बन गये होते।

(2) **वाममार्ग का उपदेश-** इनमें वाममार्गी प्रवृत्तियाँ प्रमुख थीं। अत: इन्होंने उनका डटकर प्रचार किया है-

नाद न बिन्दु न रवि न शशि मण्डल। चिअराअ सहाबे मूलक।
अजु रे अजु जाई मा लेहु रे बंक। निअहि वोहि मा जहु रे लंक॥

(3) **दान परोपकार-** इन्होंने आचरण की महत्ता पर बल देते हुए दान-पुण्य और परोपकार की महत्ता को भी स्पष्ट किया है-

जो अत्थी अण ठीअउ, सो जइ णाइ निरास।
खण उस रीव भिक्खवरु, ऽ छा (।) जहु रे गिहवास॥
पर उआरण कीअउ, अत्थिण, दीअउ दाण।
रहु संसारे कवण फलु, वरु छडुहुँ अप्पाण॥

(यदि अर्थी जन निराश चला गया तो ऐसे गृहवास से टूटा मृत्पात्र ले भीख माँगना अच्छा। दान और परोपकार के बिना इस संसार में रहने का क्या फल? उससे तो जीवन छोड़ देना अच्छा।)

(4) **संधा भाषा या संधावचन-**डॉ. जयकिशन प्रसाद के अनुसार-

"रहस्यमार्गियों की सामान्य प्रवृत्ति के अनुसार ये सिद्ध लोग अपनी बानी को पहेली या उलटबाँसी के रूप में रखते थे और उनका सांकेतिक अर्थ भी बताया करते थे। इनकी शैली पद-शैली थी।"

(5) **तांत्रिक साधना-** सिद्धों ने वामाचार का प्रतिपादन करते हुए योग-तंत्र की साधना में मद्य तथा स्त्रियों के अबाध सेवन का भी महत्व प्रतिपादित किया है-

गंगा जउंना माझे रे बहई नाई।
तहि बुडिलि मातेगि पोइआ लीले पार करेउ।

(6) **अंतर्मुखी साधना-** इन कवियों ने अंतर्मुखी साधना पर विशेष बल दिया है। विरुपा की ये पंक्तियाँ इसी प्रकार की हैं। पर यह साधना वारुणी-प्रेरित थी-

सहजे थिर करि वारुणी साधा। जे अजरामर होइ दिट काँधा।
दशमि दुआरत चिह्न रेखइया। आइल गराहक अपणे बहिआ।
चउशाडि धड़िइ देर पसारा। पइठल गराइक नाहि निसारा।

सिद्ध साहित्य का परवर्ती साहित्य पर प्रभाव

डॉ. गोविन्द त्रिगुणायत और डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार यह प्रभाव इस प्रकार है-

(1) इन्होंने बाह्याचार का खण्डन किया था। इसका प्रभाव संत-काव्य पर पड़ा। जहाँ सरहपा कहते हैं-जहणग्गा विअ होइ मुत्ति, ता सुणह सियालह (यदि नग्न रहने से मुक्ति मिल जाती तो कुत्ते और स्यार कभी के अधिकारी बन गये होते) और कबीर कहते हैं-

मूँड़ मुँड़ाये हरि मिलै, तो सब कोई लेय मुड़ाइ।
बार-बार के मूँड़ते, भेड़ के बैकुण्ड जाइ॥

(2) कोरा शास्त्र ज्ञान उनके अनुसार मरुस्थल है। सरहपा ने शास्त्रार्थ को मरुस्थल माना है-

बहुसात्थात्थ मरुत्थालिहिं, तिसिअ मरिब्बो तेहिं।

कबीर ने पोथी-ज्ञान, वाद-विवाद को हेय माना है-

पोथी पढ़ि-पढ़ि जग मुआ, पंडित भया न कोइ।
ढाई अक्षर प्रे म का, पढ़ै सो पंडित होइ॥

(3) **परोपकार दान की महत्ता-** सरहपा ने कहा है-"यदि अर्थी जन निराश चला गया तो ऐसे गृहवास से टूटा मृत्पांत्र ले भीख माँगना अच्छा। दान और पर-उपकार के बिना इस संसार में रहने का क्या फल? कबीर कहते हैं-

जालौं इहै बडपणां, सरलै पेडि खजूरि।
पंखी छां न बीसवै, फल लागै ते दूरि॥ **(कबीर)**

(4) सिद्धों की सहजावस्था के बहुत से तत्व और पारिभाषिक शब्द जैसे नाद, बिन्दु, सुरति, निरति, सहज, शून्य, संत काव्यधारा में आये।

(5) **परकीया की भावना-** सिद्धों ने परकीया भावना को महत्व दिया। घर में वैसी आकर्षित होती ही थीं-जैसी कि कृष्ण की ओर गोपियाँ होती थीं-

राग देस मोह लाइअ छार।
परम मोख लवए मुक्तिहार।
मरिअ सासु नणंद घरेशाली।
माअ मारिआ, कणई, भइअक बाली॥

यह प्रभाव रीतिकालीन कवियों पर लक्षित होता है।

(6) **युगनद्ध भावना-** इसका अर्थ है स्त्री-पुरुष का आलिंगनबद्ध जोड़ा।

कण्हपा का वचन है-**"जिमि लौण बिलिजइ पाणि एहि तिमि धरणी लई चित्त।"** इसका प्रभाव विद्यापति आदि श्रृंगारी कवियों पर पड़ा।

(7) **हठयोग साधना-** इन सिद्धों में हठयोग साधना अत्यंत विकृत रूप में पायी जाती है। इसका प्रभाव भी निर्गुण कवियों पर है।

(8) **शैली-** सिद्धों की चर्या पदों की पद-शैली का प्रभाव भी हिन्दी के संत कवियों के 'सबद' पर पड़ा। शैली के अतिरिक्त वस्तु और विषय प्रतिपादन के दृष्टिकोण से भी सिद्धों के चर्या पदों और कबीर आदि के पदों में अद्‌भुत साम्य है। सिद्धों ने चर्या पदों में सांप्रदायिक साधना को अभिव्यक्ति दी। कबीर आदि ने भी योग-साधना को 'सबद' में अभिव्यक्ति प्रदान की है।

(9) **भाषागत साम्य-** सिद्धों ने पूर्वी मिश्रित भाषा का प्रयोग चर्या गीतों में और खड़ी बोली के समान अक्खड़ अपभ्रंश भाषा का प्रयोग दोहों में किया। यह भाषागत विभेद निर्गुण संत काव्य में भी दृष्टिगत होता है।

नाथपंथी काव्य का संक्षिप्त परिचय एवं प्रमुख विशेषतायें

सिद्धों की प्रतिक्रिया के फलस्वरूप नाथपंथी काव्य के रूप में एक ऐसी योग-मार्गी धारा का विकास हुआ जो वाममार्गी भोग-प्रधान सिद्धों की योग-साधना के विरोध में उठ खड़ी हुई। इसका प्रवर्तक गुरु गोरखनाथ को माना जाता है। इन्होंने पतंजलि के उच्च लक्ष्य ईश्वर-प्राप्ति को विशेष महत्व प्रदान किया। उनके समय के संबंध में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। कुछ विद्वान इन्हें 10वीं तथा अन्य 13वीं शताब्दी का मानते हैं। आचार्य शुक्ल की मान्यता है कि, "पृथ्वीराज के समय के आस-पास ही विशेषत: कुछ पीछे, गोरखनाथ के होने का अनुमान दृढ़ होता है।" डॉ. हजारी

प्रसाद द्विवेदी का कथन है है कि 10वीं शताब्दी के प्रसिद्ध कश्मीरी आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने 'तंत्रलोक' में मच्छेय विभु या मत्स्येन्द्रनाथ की वंदना की है। इससे सिद्ध होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ 10वीं शताब्दी से पूर्व अवतरित हुए थे। तिब्बती परंपरा के साथ तथ्य को मिलाकर देखें तो यह समय 9वीं शताब्दी के आरंभ में पड़ता है। गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य थे, इसलिए उनका समय भी इसी के आस-पास पड़ता है।

नाथों की संख्या और रचनाएं- आचार्य शुक्ल के अनुसार इनकी संख्या नौ है, जो इस प्रकार हैं-नागार्जुन, जड़भरत, हरिश्चंद्र, सत्यनाथ, भीमनाथ, गोरखनाथ, चर्पट, जलंधर और मल्यार्जुन।

नाथपंथ में गोरखनाथ को ही अन्यतम माना जाता है। उन्होंने लगभग 40 ग्रंथों की रचना की है। परंतु डॉ. पीतांबर दत्त बड़थ्वाल ने 14 ग्रंथों को स्वीकार किया है, इस प्रकार हैं-सबदी, पद, सिष्यादरसन, प्राण संकली, नरवै बोध, आत्मबोध, अमैमात्र जोग, पंद्रह तिथि, सप्तवार, मछीन्द्र-गोरख बोध, रोमावली, ग्यानतिलक, ज्ञान चौंतीसा, पंचमात्रा।

इन ग्रंथों में गुरु महिमा, वैराग्य, इन्द्रिय निग्रह, प्राण साधना विषयों का विवेचन मिलता है। डॉ. राजनाथ शर्मा उनका साहित्य की दृष्टि से कोई मूल्य स्वीकार नहीं करते। आचार्य शुक्ल भी इन्हें साहित्य की श्रेणी में स्वीकार नहीं करते-"उनकी रचनाओं का जीवन की स्वाभाविक सरणियों, अनुभूतियों और दशाओं से कोई संबंध नहीं। वे सांप्रदायिक शिक्षा मात्र हैं, अत: शुद्ध साहित्य की कोटि में नहीं आ सकतीं। इन रचनाओं की परंपरा को हम काव्य या साहित्य की कोई धारा नहीं कह सकते।"

नाथ साहित्य की कतिपय विशेषताएं

(1) **बाह्याचार का खंडन-** इनके बाह्याचार खण्डन की एक विशेषता यह भी है कि यह अपनी हास्य-व्यंग्यात्मक पकड़ रखने के कारण बेजोड़ हैं।

गोरखनाथ की वाणी है-

दूधाधारी पर धरि चित्त, नागा लकड़ी चाहै नित्त।
मौनी कसै मयंत्र की आस, बिनु गुर गुदड़ी नहीं बेसास॥

अर्थात् दुग्धाहारी का मन सदा दूसरों के घर में पड़ा रहता है। सोचता रहता है कि अमुक के घर से दूध आ जाता तो अच्छा रहता या अमुक के घर से दूध आ ही रहा है। शरीर गर्म रखने के लिए नागा को लकड़ियों की चिंता करनी पड़ती है और मौनी को ऐसे साथी की आवश्यकता पड़ती है जो उसके स्थान पर बोलकर मार्ग दिखा सकें ....।

(2) **दार्शनिक सिद्धांतों का प्रतिपादन-** नाथों ने पुस्तक-ज्ञान की भर्त्सना की है। ब्रह्म तत्व को उन्होंने द्वैताद्वैत विलक्षण के रूप में स्वीकार किया है और माया के दो रूप स्वीकार किए हैं-विद्या (मोक्षदायक रूप) और अविद्या (बंधनकारक रूप)-

वसति न सून्यं सून्यं न वसति, अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिखर में बालक बोलैं, ताका नाव धरउगे कैसा॥ (गोरखनाथ)

(3) **साधना पद्धति-** इनकी साधना पद्धति कुण्डलिनी योग की है। इनके अनुसार गगन-मंडल में औंधे मुँह का अमृत कुंड है। उस कुंड के अमृत का भोगी बन जाने पर व्यक्ति अजर-अमर हो जाता है। इस अमृत का अधिकारी बनने के लिए व्यक्ति को तीन साधनाएं करनी पड़ती हैं-इन्द्रिय, निग्रह, प्राण साधना और मन साधना। गोरख के अनुसार-

गगन मण्डल में औधा कुआं, तहँ अमृत का वासा।
सगुरा होय से झरझर पिया, निगुरा जाहि पियासा॥

(4) **सहज भावना-** इन्होंने आचरण की पवित्रता, गर्वहीनता, सहज जीवन पद्धति पर बल दिया है। ये ही मानव के कल्याण के साधन हैं। गोरखनाथ कहते हैं-

हबकि न बोलिबा, ठबकि न चलिबा, धोरे धरिबा पाँव।
गरब न करिबा, सहजै रहिबा, भणत गोरख राँव॥

(5) **वेदशास्त्र का पठन निरर्थक-** आचार्य शुक्लानुसार नाथ संप्रदाय के सिद्धांत ग्रंथों में वेदशास्त्र का अध्ययन व्यर्थ ठहराकर विद्वानों के प्रति अश्रद्धा प्रकट की गयी है-

योगशास्त्र पठेन्नित्यं किमन्यैः शास्त्र विस्तरैः।

(6) **तीर्थाटन का विरोध-** यह भावना सिद्धों में भी थी और नाथों के माध्यम से यह भावना निर्गुण संतों तक पहुँची है-

प्रतरन्नपि गंगायां नैव श्वा शुद्धि मर्हति।
तस्माद्धर्मधियां पुंसां तीर्थस्नानं तु निष्फलम्॥

(7) **अंतः साधना पर बल-** सिद्धों की भाँति इन्होंने भी अंतः साधना पर बल दिया है। अंतः साधना के वर्णन में हृदय को दर्पण कहा गया है, जिसमें आत्मा के स्वरूप का प्रतिबिम्ब पड़ता है-

हृदयं दर्पणं यस्य मनस्तत्र विलोकयेत्।
दृश्यते प्रतिबिम्बेन आत्मरूपं सुनिश्चितम्॥

(8) **भाषा और अभिव्यक्ति-** आचार्य शुक्ल के अनुसार-"उनकी भाषा देशभाषा मिश्रित अपंभ्रंश अर्थात् पुरानी हिन्दी है। उन्होंने भरसक उसी सर्वमान्य व्यापक काव्य-भाषा में लिखा है जो उस समय गुजरात, राजपूताना, ब्रजमंडल से लेकर बिहार तक लिखने-पढ़ने की सिद्ध भाषा थी।" इसमें कुछ पूर्वी प्रयोग (भडले, बूडिलि) भी मिलते हैं, पर उनकी उपदेश की भाषा पुरानी टकसाली हिन्दी है।

नाथ साहित्य का परवर्ती काव्य पर प्रभाव

डॉ. राजनाथ शर्मा के अनुसार- "नाथपंथी साहित्य का महत्व इस दृष्टि से स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उसने हिन्दी के परवर्ती संत-काव्य को गहरे रूप से प्रभावित किया था। इस नाथपंथी साहित्य में जहाँ एक ओर उलटबासियों की शैली में रहस्यात्मक साधना की व्यंजना पाई जाती है, वहाँ जनता की बोली में धार्मिक पाखंड, जाति-प्रथा, मूर्तिपूजा आदि का तीखा खंडन भी मिलता है। ये हठ योग की साधना द्वारा शरीर और मन को शुद्ध कर शून्य में समाधि लगा, ब्रह्म का साक्षात्कार किया करते थे। कबीर आदि संत कवियों में हमें जो रहस्यात्मकता, रूढ़ियों का खंडन और हठयोग साधना से संबंधित उक्तियाँ मिलती हैं, उन पर इन नाथपंथी साधन कवियों का ही प्रभाव रहा है।"

सहज स्थिति भी इनमें पायी जाती है। हिन्दी के संत कवियों ने 'सहज' का कितना अधिक प्रयोग किया और वह उनकी चेतना में कितनी दूर तक घर किये हुए हैं, इसका अनुमान उनकी बानियों के 'सहज कौ अंग' अंश के आधार पर भली-भाँति लगाया जा सकता है।

डॉ. त्रिगुणायत ने नाथ-पंथियों के प्रभाव को (कबीर की विचारधारा) संत कवियों पर चार रूप में दर्शाया है-स्वरूप, दार्शनिक सिद्धांत, साधना पद्धति और भाषा अभिव्यक्ति।

जहाँ तक स्वरूप का प्रश्न है-कबीर आदि के कितने ही पदों तथा साखियों में योगी का जो स्वरूप वर्णित है, वह नाथ-योगियों का ही रूप है-

मन में आसण मन में रहना, मन का जप-तप-मनसू कहना।
मन में खपरा मन में सींगी, अनहद नाद बजावै रंगी॥

दार्शनिक सिद्धांत की स्थिति में भी कबीर आदि उनसे प्रभावित हैं।

गोरख ने कहा है-

वसति न सून्यं सून्यं न वसति, अगम अगोचर ऐसा।
गगन शिखर में बालक बोलै, ताका नाव धरउगे कैसा॥

तो कबीर कहते हैं-

सरीर सरोवर भीतर, आछे कमल अनूप।
परम ज्योति पुरुषोत्तम, जाके देह न रूप॥

साधना पद्धति के क्षेत्र में साम्य इस प्रकार देखा जा सकता है-

(1) **गगन मण्डल में औधा कुआं, तहँ अमृत का वासा।**
सगुरा होय सो झरझरा पिया, निगुरा जाहि पियासा॥ (गोरख)

(2) **आकते से मुख औंधा कुआं, पाताले पनिहारि।**
ताका पाणी को हंसा पियै, बिरला आदि विचारि॥ (कबीर)

उपसंहार- इस काव्य का भले ही शुक्ल जी ने साहित्यिक महत्व स्वीकार न किया हो, परंतु उसने संत काव्य को प्रभावित किया है। सच तो यह है कि संत कवियों ने जिस विचारधारा तथा काव्य-रचना को अपनाया, वह आदि-काल के बौद्ध सिद्धों तथा नाथों की परंपरा का ही विकसित रूप था। आचार्य शुक्ल भी इस प्रभाव को इस रूप में स्वीकार करते हैं-"कबीर आदि संतों को नाथपंथियों से जिस प्रकार 'साखी' और 'बानी' शब्द मिले, उसी प्रकार साखी और बानी के लिए बहुत सामग्री और सधुक्कड़ी भाषा भी।" यह तथ्य हिन्दी काव्य के विकास-क्रम में इनको ऐतिहासिक महत्व प्रदान करता है।

रासो काव्य परम्परा और उसमें पृथ्वीराज रासो का स्थान

साहित्य का निर्माण परम्पराओं से होता है। कोई भी कवि किसी न किसी परम्परा का सहारा लेकर काव्य रचना में प्रवृत्त होता है। हिन्दी साहित्य में प्रत्येक युग किसी न किसी परम्परा का सहारा लेकर निर्मित हुआ है। रासो काव्य परम्परा भी इसका अपवाद नहीं है। रासो की परम्परायें हिन्दी साहित्य के प्रारम्भिक काल से प्रारम्भ हुई और निरन्तर निर्बाध रूप से विकसित होती रहीं। इस परम्परा के बीच-बीच में कतिपय परिवर्तन भी हुए किन्तु वे परिवर्तन ऐसे नहीं थे जिन्हें मौलिक और विशिष्ट परिवर्तन कहा जा सके।

हिन्दी परम्परा के आदि कवि - कवि चन्द्र बरदाई का जन्म हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण घटना है। उनके आविर्भाव का समय न केवल संघर्षमय था, बल्कि भारी उथल-पुथल और परिवर्तनों का भी समय था। चन्द्र बरदाई हिन्दी की परम्परा के आदि कवि और अपभ्रंश परम्परा के अंतिम कवि थे। रासो का विकास अपभ्रंश परम्परा में हुआ और उसकी परम्परा आधुनिक युग तक बराबर चली आ रही है। हिन्दी को जो रासो परम्परा प्राप्त हुई, वह गुजराती से आई है। रासो परम्परा में प्रथम रासो ग्रन्थ संदेश रासक है, जिसकी रचना अब्दुल रहमान ने की बताई है।

सन्देश रासक - रासो साहित्य के शोधकर्ताओं और प्राचीन साहित्य के समीक्षकों की धारणा रही है कि रासो परम्परा का श्री गणेश अब्दुल रहमान की कृति से हुआ है। विद्वानों की मान्यता है कि रासो परम्परा में प्रथम प्रामाणिक कृति सन्देश रासक ही है। राहुल सांस्कृत्यायन ने इसका रचना काल वि. 11 वीं शताब्दी माना है। मुनि जिन विजय के अनुसार इसकी रचना 12 वीं शताब्दी के उत्तरार्ध और 13 वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में स्वीकार की है। इस ग्रन्थ की कहानी बड़ी

सरस और मार्मिक है। इसमें प्रोषितपतिका नायिका के विरह का मार्मिक वर्णन मिलता है। इसकी नायिका पथिक के माध्यम से अपने पति के पास प्रेम संदेश भेजती है। सन्देश रासक का ऋतु वर्णन बड़ा ही मार्मिक है।

मंजु रास - डा. विपिन बिहारी त्रिवेदी की मान्यता है कि संदेश रासक के पूर्व मंजुरास नामक ग्रन्थ मिलता है। इसमें मालवा के शासक मंजु और कर्नाटक के तैलप की बहिन मृणालवती के प्रेम का वर्णन मिलता है। इस ग्रन्थ के कतिपय छन्द 'सिद्धहेमशब्दानुशासन' और मेरूतुंग के प्रबंध चिंतामणि में भी प्राप्त होते हैं।

भरतेश्वर बाहुबली रास - शालिभद्र द्वारा रचित भरतेश्वर बाहुबली रास भी एक महत्वपूर्ण रचना के रूप में प्राप्त होता है। यह रासो वीर रसात्मक है। इसमें ऋषभ के भरतेश्वर और बाहुबली के दो पुत्रों के युद्धों का वर्णन किया गया है। इसका रचना काल संवत् 1241 स्वीकार किया गया है। शालिभद्र ने ही बुद्धिरास भी लिखा। इसी समय लिखे गये रासो काव्यों में कवि आसगु कृत जीवदया रास तथा चन्दन बाल रास, कवि देल्हणकृत जयसुकुमाल रास, जीवंधन कृत मुक्तावलि रास व उपदेश रसायन रास का नाम विशेषत: उल्लेखनीय है।

उपदेश रसायन रास - रासो प्राय: वीर रसात्मक रहे हैं, आपवादिक रूप से कतिपय ऐसे रासो ग्रन्थ भी लिखे गये हैं, जो वीरभावेतर पद्धति पर लिखे गये हैं, जिन दत्तसूरि ने उपदेश रसायन की रचना की है। महत्वपूर्ण बात यह है कि इस कृति को वीर काव्य परम्परा की कोटि में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। इसका कारण इस ग्रन्थ का नीति काव्य शैली में लिखा होना है। नीति काव्य शैली के साथ-साथ इसमें जैन धर्म सम्बन्धी सामग्री की प्रधानता है।

डिंगल में रासो ग्रन्थ - इस परम्परा में जो रासो ग्रन्थ मिलते हैं, उनमें प्राय: चरित्र की ही प्रधानता रही। इस परम्परा में आने वाली रचनाओं में ऐतिहासिक तत्वों की रक्षा नहीं की गई। इनके आकार-प्रकार, विषय वस्तु और वर्णन शैली में पर्याप्त विभिन्नता है। 12 वीं शताब्दी से लेकर 15 वीं शताब्दी के बीच रासो परम्परा का पर्याप्त विकास हुआ है। इस अवधि में लिखे गये रासो या रास ग्रन्थ निम्नांकित हैं - 1. बीसलदेव रासो, 2. जम्बू स्वामी रास 3. रेवन्तगिरि रास 4. कच्छुनि रास 5. गौतम रास 6. दशाण भद्र रास 7. वस्तुपाल तेजपाल रास 8. श्रेणिक रास 9. पेपड़ रास 10. समरसिंह रास 11. सप्तक्षेत्रि रास 12. चन्दन बाला रास। इन सभी रासो का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जा रहा है-

बीसलदेव रासो - बीसलदेव रासो, रासो परम्परा का प्रसिद्ध और महत्वूपर्ण ग्रन्थ है। इसके रचयिता नरपति नाल्ह माने जाते हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मतानुसार यह ग्रन्थ वीरगीत के रूप में सबसे प्राचीन है। इसमें समयानुसार भाषा के परिवर्तन का आभास भी मिलता है। कतिपय विद्वानों की दृढ़ धारणा है कि इसको वीर काव्य परम्परा का ग्रन्थ न मानकर प्रेम गीत परम्परा का ही मानना चाहिए। इसका प्रमुख कारण यह है कि इसमें वीर भावों का चित्रण नहीं के बराबर है। डा. हरिहरनाथ टण्डन के शब्दों में इस ग्रन्थ में कवि ने प्रेम और विरह के मधुर चित्र खींचे हैं। वियोग का चित्रण अत्यन्त मार्मिक है। कवि की सहृदयता और भावुकता का दिग्दर्शन राजमती का विरह ही है। कलापक्ष का निर्वाह कवि ने अच्छी तरह नहीं किया है। छंद दोषों का तो बाहुल्य है।

17 वीं 18 वीं शताब्दी के रासो ग्रन्थ का पता उस समय लगा जबकि पण्डित मोतीलाल मेनारिया, नरोत्तम स्वामी और डा. दशरथ शर्मा व श्री अगरचन्द्र नाहटा ने हस्तलिखित प्रतियों को खोज निकाला। 17 वीं शताब्दी के रासो ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है - 1. कुमारपाल रास रचयिता ऋषभदास 2. राम रासो रचयिता माधोदास 3. विनोद रासो रचयिता सुमतिहस। अठाहरवीं शताब्दी के रासो ग्रन्थों के नाम इस प्रकार हैं - 1. छत्रसाल रासो रचयिता डूंगरसी 2, संगतसिंह रासो रचयिता गिरिधर चारण 3. खुम्माण रासो रचयिता दलपति विजय । 19 वीं शताब्दी में जिन

रासो ग्रन्थों का पता चला है, उनमें श्रीपाल रास विशेष उल्लेखनीय रचना है। 18 वीं शताब्दी के रासो ग्रन्थों में खुम्मान रासो को उपेक्षित नहीं किया जा सकता है।

खुम्मान रासो - इस रासो के रचयिता के रूप में दलपति विजय का नाम प्रसिद्ध है। इन्हें दौलत विजय भी कहा जा सकता है। इस ग्रन्थ में मेवाड़ के खुम्मान अथवा सूर्यवंश की महत्ता का वर्णन किया गया है -

कवि दीजै कमला कला, जोड़णा कवित जुगति।
सूरजि बंस तणौ सुजस, वरणन करू विगति॥

हास्य मिश्रित रासो ग्रन्थ - रासो काव्य परम्परा में हास्य मिश्रित रासो ग्रन्थों को भी नहीं भुलाया जा सकता है। इस वर्ग में आने वाले ग्रन्थों में मकाड़ रासो, ऊंदर रासो, खीचड़ रासो और गोधा रासो आदि हैं। ये सभी रासो ग्रन्थ डिंगल भाषा में लिखे गये हैं।

पिंगल या बृजभाषा के रासो ग्रन्थ - डिंगल के रासो ग्रन्थों की जो परम्परा मिलती है, वैसी ही परम्परा पिंगल के ग्रन्थों की भी मिलती है। पिंगल या ब्रजभाषा में लिखे गये रासो ग्रन्थों की नामावली इस प्रकार है - 1. हम्मीर रासो (शांरगधर कृत) 2. परमाल रासो (जगनिक कृत) 3. विजयपाल रासो (नल्लहसिंह भट्ट कृत) 4. काहिया को रासे (गुलाब कवि कृत) 5. कायम रासो (जानकवि कृत) 6. रतन रासो (जोधराज कृत) 7. बुद्धि रासो (जल्हकवि कृत) 8. राउजैतसी रौ रासो (अज्ञात)। इन रासो ग्रन्थों का विशेष महत्व है - हम्मीर रासो, परमाल रासो और विजयपाल रासो। इनका संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है-

हम्मीर रासो - यह ग्रन्थ देशी भाषा का वीरगाथात्मक महाकाव्य बताया गया है। यह अनुपलब्ध है - इसके विषय में आचार्य शुक्ल का यह अभिमत है - 'प्राकृत पिंगल सूत्र में कुछ पद्य असली हम्मीर रासो के हैं।'

परमाल रासो - जगनिक को इसका रचयिता स्वीकार किया गया है। वे कालिंजर के राजा परमाल के चारण और राजकवि थे। यह ग्रंन्थ आल्हाखण्ड नाम से भी प्रसिद्ध है। लोक वीरगाथा के रूप में इसका विकास लोकगायकों द्वारा होता रहा है। सन् 1882 ई. में सर चार्लस इलिट ने अनेक भाटों की सहायता से इसका सम्पादन करवाया था। यह वीर रसात्मक काव्य है, इस का आधार पृथ्वीराज रासो का महोबा समय है। डा. सुन्दर दास की मान्यता है कि जिन प्रतियों के आधार पर यह संस्करण संपादित हुआ है, उनमें यह नाम नहीं है।

विजयपाल रासो - इस ग्रन्थ के रचयिता नल्लसिंह भट्ट माने जाते हैं, जो विजयपाल के दरबारी कवि थे। हिन्दी साहित्य के इतिहास लेखकों ने इसका रचना काल वि. 1100 (सन् 1043) माना है। इतने पर भी यह सच लगता है कि अपने वर्तमान रूप से यह 16 वीं शताब्दी की रचना प्रतीत होती है। इस ग्रन्थ में विजयपाल की विजय यात्राओं का वर्णन है। यह वीर रसात्मक रचना है। यों तो इसके 42 छन्द उपलब्ध हैं फिर भी इसके महत्व को अस्वीकार नहीं किया जा सकता है।

पृथ्वीराज रासो का स्थान

यह तो निर्विवाद सत्य है कि रासो काव्य परम्परा में पृथ्वीराज रासो का स्थान और महत्व सर्वोपरि है। एक प्रकार से कृष्ण भक्ति धारा में जो स्थान सूरदास के सूरसागर का है, राम भक्तिधारा में जो महत्व तुलसी दास के रामचरित मानस को प्राप्त है, वही महत्व रासो काव्य परम्परा में पृथ्वीराज रासो को प्राप्त है। अनेक विद्वानों ने इस कृति को हिन्दी का प्रथम महाकाव्य स्वीकार किया है। आचार्य शुक्ल ने इसे हिन्दी का प्रथम महाकाव्य माना है, तो स्वर्गीय गुलाबराय ने स्वाभाविक विकासशील महाकाव्य माना है और मोतीलाल मेनारिया ने इसमें महाकाव्य की भव्यता और दृष्य

काव्य की सजीवता देखी है। डा. विपिन बिहारी ने कतिपय त्रुटियों के होते हुए भी हिन्दी के इस प्रबन्ध काव्य को निर्विवाद रूप से महाकाव्य सिद्ध करने में कुछ उठा नहीं रखा है।

इसके विपरीत डा. श्यामसुन्दर दास ने इसे महाकाव्य नहीं माना है। उनका मत है कि इसमें न तो कोई प्रधान युद्ध है और न किसी महान परिणाम का उल्लेख ही है। सबसे प्रधान बात तो यह है कि इस रासो में घटनाएं एक दूसरे से असम्बद्ध हैं तथा कथानक भी शिथिल और अनियमित है, महाकाव्यों की भांति न तो किसी एक आदर्श में घटनाओं का संक्रमण होता है और न अनेक कथानकों की एकरूपता ही प्रतिष्ठित होती है। डा. उदयनारायण तिवारी ने इसे महाकाव्य नहीं माना है - रासो को एक विशालकाय वीर काव्य ग्रन्थ कहना ही उचित है। स्थान- स्थान पर इसके कथानक में शिथिलता है। पृथ्वीराज रासो की महत्ता और विशिष्टता के अनेक कारण हैं, जो इस प्रकार हैं -

1. पृथ्वीराज रासो में आये वस्तु वर्णन आकर्षक हैं। उनमें विविधता, विभिन्नता और सरसता है।
2. रासो में प्रकृति चित्रण की छटा भी पूरी अद्वितीयता से संयुक्त है।
3. पृथ्वीराज रासो वीर काव्य है, फिर भी उसमें यथावसर वीर रूप के साथ ही रौद्र, भयानक और वीभत्स रस का चित्रण तो मिलता ही है, श्रृंगार को भी चित्रित किया गया है।
4. कलात्मकता की दृष्टि से भी पृथ्वीराज रासो अप्रतिम कृति है। उसकी भाषा मिश्रित है, उसकी अलंकार योजना विशिष्ट है। रसानुकूल अलंकारों का प्रयोग कृति को अत्यधिक आकर्षक बनाने में सफल हुआ है।
5. यों तो विद्वानों ने चन्द कवि को छप्पय का सम्राट माना है। यह तो सच ही है कि चन्द कवि के छप्पय जितने सरस, स्वाभाविक और प्रभावोत्पादक हैं, उतने अन्य किसी वीरकाव्य में नहीं हैं। पृथ्वीराज रासो में 72 छन्दों का प्रयोग कवि की प्रतिभा को उदाहत करता है।

निष्कर्ष

यद्यपि रासो की परम्परा में पृथ्वीराज रासो सर्वोपरि हैं तथापि उसकी प्रामाणिकता - अप्रामाणिकता को लेकर पर्याप्त विवाद हिन्दी जगत में रहा है। यदि इस प्रश्न को उपेक्षित कर दिया जाय तो इसके काव्य सौष्ठव के आधार पर ही इस ग्रन्थ के महत्व को आंका जा सकता है। वस्तुत: यह ग्रन्थ कवि की प्रौढ़ अनुभूति और उर्वर कल्पना शक्ति का प्रमाण है। इतिहास और कल्पना के मणिकांचन योग से समुन्नत यह ग्रन्थ उत्कृष्टता का द्योतक है। डा. द्वारिका प्रसाद सक्सेना ने इस ग्रन्थ के महत्व और रासो परम्परा में योगदान को इन शब्दों के माध्यम से स्पष्ट किया है - 'यह ग्रन्थ राष्ट्रीय भावों को उद्‌बुद्ध करने तथा वीर भावनाओं को जागृत करने की महती प्रेरणा में लिखा गया है। इसलिए इस महाकाव्य की महत्ता अक्षुण्ण है। इसका गौरव चिरस्थायी है, इसका प्रभाव शाश्वत है और इन सभी विशेषताओं का मूल कारण इसका अद्वितीय काव्य सौष्ठव है जो अत्यन्त उन्नत और उच्चकोटि का है।' अधिकांश समीक्षकों ने इसकी महत्ता को खुले मन से स्वीकार किया है।

आदिकाल के प्रमुख रचनाकार और उनकी विशेषताएं

आदिकाल के प्रमुख रचनाकार और रचनाएं

हिन्दी के शैशव अर्थात् वीरगाथा-काल में प्रणीत काव्य ग्रंथ, प्रबंध काव्य तथा मुक्तक वीर गीतों के रूप में उपलब्ध हैं। सभी प्राय:वीर रस प्रधान हैं और 'रासो' कहलाते हैं। प्रत्येक ग्रंथ तथा उसके रचियता का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है।

दलपति विजय का खुमान रासो- 'खुमान रासो' वीरगाथा काल का प्रथम प्रबंध काव्य है। इसकी एक उपलब्ध हस्तलिखित प्रति पर 'दलपति विजय' का नाम लिखा है, किन्तु यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि उक्त कवि इसके मूल रचयिता हैं, उद्धर्ता हैं या परिशिष्ट रचयिता। शिवसिंह सरोज के अनुसार, "'खुमान रासो' किसी अज्ञात नाम भाट कवि की रचना है, जिसमें रामचंद्र से लेकर खुम्माण द्वितीय तक के युद्धों का वर्णन है। इस ग्रंथ में कवि भोज के पश्चात् मेवाड़ के राज सिंहासन पर बैठने वाले खुम्माण द्वितीय के युद्धों का सजीव वर्णन है। खुम्माण द्वितीय का समय संवत् 870 से 1900 तक का है। इतिहास में प्रसिद्ध है कि खुम्माण द्वितीय के शासन काल में बगदाद के खलीफा अलमामू ने चित्तौड़ पर आक्रमण किया था। वीर खुम्माण ने अन्य राजपूत राजाओं की सहायता से चित्तौड़ की रक्षा की थी। खुम्माण ने 24 युद्धों में अपने शौर्य का परिचय दिया था। कर्नल टाड ने भी अपने इतिहास में खुम्माण द्वितीय के युद्धों का सविस्तार वर्णन किया है। 'खुम्माण रासो' की प्राप्त प्रति अपूर्ण है, जिसमें महाराणा प्रताप तक का वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि मूल प्रति में परवर्ती कवियों द्वारा प्रक्षिप्त अंश समाविष्ट कर दिया गया है। मोतीलाल मेनारिया ने इसे 18वीं शती की रचना माना है। अगरचंद नाहटा ने समस्त हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर अपना निष्कर्ष निम्न प्रकार प्रस्तुत किया है-"

(1) इस ग्रंथ में बप्पा रावल से लगाकर राजसिंह तक का वृत्तांत है, पर राणा खुम्माण का वृत्तांत विस्तार से होने के कारण ग्रंथ का नाम 'खुम्माण रासो' रखा गया है।

(2) इसकी भाषा राजस्थानी है।

(3) इसके रचयिता जैन-कवि दलपति विजय हैं, जिनका दीक्षा से पूर्व का नाम दलपत था।

(4) ग्रंथ निर्माण काल सं. 1730 से सं. 1760 के मध्य का है।

इस ग्रंथ में विविध छंदों का प्रयोग है। कविता की दृष्टि से यह ग्रंथ अत्यंत सरल है।

यथा- **पिड़ चित्तौड़ न आविऊ, सावण पहिली तीज।**
जोवै बाट बिरहिणी, खिण-खिण अणवै खीज॥

नरपति नाल्ह का बीसलदेव रासो- 'बीसलदेव रासो' गेय मुक्तक परंपरा का प्रतिनिधि ग्रंथ है। प्राय: इतिहासकारों ने इस ग्रंथ को वीर काव्यों की कोटि में रखा है, किन्तु वास्तव में यह रासो ग्रंथ प्रेमाख्यान काव्यों की कोटि का है। इसमें विवाहोपरांत दांपत्य प्रेम के विकास का चित्रण है और प्रोषित-पतिका के वियोगजन्य संताप का बारहमासा आदि के आधार पर निरूपण है। इस दृष्टि से इस काव्य ग्रंथ को 'संदेश रासक' या 'ढोला मारू' जैसे काव्यों की कोटि में रखना अधिक वैज्ञानिक है। इस ग्रंथ का रचनाकाल, रचयिता तथा चरितनायक भी अन्य रासो ग्रंथों की भांति विवादग्रस्त है। कुछ विद्वान अजमेर और सांभर के राजा विग्रहराज चतुर्थ को इसका चरित नायक मानते हैं तो कुछ विग्रहराज तृतीय को। ओझाजी के अनुसार विग्रहराज तृतीय अधिक उपयुक्त है। उनका कहना है कि यदि बीसलदेव को विग्रहराज चतुर्थ माना जाए तो राजमती का उनके साथ विवाह इतिहास के विरुद्ध पड़ता है।

'बीसलदेव रासो'चार खंडों का एक विरह काव्य है। प्रथम खंड में अजमेर के विग्रहराज चतुर्थ (उपनाम बीसलदेव) का परमाय वंशज राजा भोज की कन्या राजमती से विवाह वर्णित है। द्वितीय खंड में राजमती के व्यंग्य से बीसलदेव के उड़ीसा प्रवास, तृतीय खंड में राजमती के विरह और चतुर्थ खंड में राजमती का नैहर चले जाना तथा बीसलदेव का उसे नैहर से लाने आदि का वर्णन है। सारी कथा ललित मुक्तकों में नियोजित है। इस ग्रंथ के रचयिता, विग्रहराज चतुर्थ के समकालीन कवि नरपति नाल्ह हैं जो सं. 1212 के लगभग हुए। कवि ने स्वयं इस ग्रंथ का रचना-काल 'बारा सो बहोतरा'लिखा है। मोतीलाल मेनारिया तथा डॉ. हजारीप्रसाद ने भी नरपति नाल्ह का समय 1212 ही माना है और उन्हीं को इस ग्रंथ का प्रणेता स्वीकार किया है। इस ग्रंथ में भी समय-समय

पर इतने परिवर्तन हुए हैं कि इसका वास्तविक स्वरूप दब सा गया है, जिससे ऐतिहासिक भ्रांतियां उत्पन्न हो गई हैं। इस ग्रंथ का रचना काल भी भ्रांत एवं विवादग्रस्त है। पं. रामचंद्र शुक्ल इसका रचना काल 1212 मानते हैं तो डॉ. गौरीशंकर ओझा संवत् 1272 के पक्ष में हैं। इस ग्रंथ की भाषा में अपभ्रंश तथा हिन्दीपन दोनों ही हैं। डॉ. वर्मा के अनुसार इस ग्रंथ की भाषा अपभ्रंश से सद्य: विकसित हिन्दी है।

जगनिक का परमाल रासो- जगनिक का कालिंजर के राजा परमाल (परमर्दि देव) का दरबारी कवि होना प्रसिद्ध है। परमाल कन्नौज के अधिपति जयचंद के मित्र तथा सामंत थे। इसलिए पृथ्वीराज चौहान ने इन पर भी आक्रमण किया था। जगनिक ने अपने आल्ह-खंड में जिसे 'परमाल-रासो' कहा है, उसमें इन्हीं परमाल राजा के वीर सामंत आल्हा-ऊदल की वीर-गाथाएं चित्रित की हैं। आल्हा-ऊदल और उनके भाई देवा, मलखे, सुलखे आदि महोबा के बनाफर क्षत्रिय थे, जिनकी वीरता का लोहा स्वयं पृथ्वीराज चौहान मानते थे। जगनिक कृत आल्हा खंड एक वीरगति काव्य है, जिसमें आल्हा-ऊदल के बावन युद्ध वर्णित हैं। यह ग्रंथ अत्यंत लोकप्रिय है। आज भी वर्षा-ऋतु में गांव-गांव में अल्हैतों द्वारा 'आल्हा' का गायन होता है। समय-समय पर किए गए परिवर्तनों तथा परिवर्द्धनों के कारण इसका भी मूलरूप दब-सा गया है। इस ग्रंथ को सबसे पहले फर्रुखाबाद के कलेक्टर मि. चार्ल्स इलियट ने प्रकाशित कराया।

चंदबरदाई का पृथ्वीराज रासो- 'पृथ्वीराज रासो' वीरगाथा काल का सर्वाधिक प्रमुख प्रतिनिधि ग्रंथ और हिन्दी का प्रथम महाकाव्य है। वीरगाथा काल का प्रसिद्ध प्रासाद असंदिग्ध रूप से इसी पर आधारित है। यह एक उत्कृष्ट प्रबंध काव्य है, जिसमें वीर भावों की सजीव व्यंजना है। 69 अध्यायों का यह विशाल ग्रंथ छप्पय, कवित्त, दूहा, तोमर, त्रोटक और गाहा आदि छंदों में लिखा गया है। इसके रचयिता पृथ्वीराज के समसामयिक कवि चंदबरदाई थे।

पृथ्वीराज रासो के प्रणेता चंदबरदाई का जीवन-काल सं. 1225 से 1249 तक माना जाता है। रासो के अनुसार इनकी जन्म भूमि लाहौर थी और ये भट्ट जाति के जगातगोत्रिय थे। ये दिल्ली के अंतिम हिन्दू सम्राट पृथ्वीराज चौहान के न केवल राजकवि वरन् सखा तथा सामंत भी थे। चंदबरदाई षट्भाषा, व्याकरण, ज्योतिष तथा काव्यशास्त्र आदि अनेक विधाओं के मर्मज्ञ थे। जनश्रुति के आधार पर जलंधर देवी का इष्ट होने के कारण ये अदृष्ट काव्य की भी रचना करते थे। अपने आश्रयदाता एवं सखा पृथ्वीराज का इन्होंने जीवन के अंतिम क्षण तक साथ नहीं छोड़ा। शहाबुद्दीन गौरी जब पृथ्वीराज को पकड़कर गजनी ले गया तो ये भी गजनी चले गए और एक दोहा पढ़कर चौहान सम्राट को गौरी को मारने का संकेत दिया। सम्राट ने शब्द बेधी बाण द्वारा गौरी को मार डाला। बाद में पृथ्वीराज तथा चंदबरदाई दोनों ने साथ ही साथ अपने जीवन का अंत करने की व्यवस्था की। गजनी जाते समय चंदबरदाई ने इस पंक्ति के अनुसार 'पृथ्वीराज रासो'ग्रंथ अपने पुत्र जल्हण को सौंप दिया-

"पुस्तक जल्हण हत्थ दै, चलि गज्जन नृप काज।"

कहा जाता है कि ग्रंथ का अंतिम भाग उनके पुत्र जल्हण ने ही पूरा किया। 'पृथ्वीराज रासो' 1270 पृष्ठों का एक विशाल काव्य ग्रंथ है। ग्रंथ के प्रारंभ में दिल्ली के राजा अनंगपाल के दोनों दौहित्र अजमेर के पृथ्वीराज चौहान और कन्नौज के जयचंद का वर्णन है। अनंगपाल ने पृथ्वीराज को अपना दत्तक पुत्र मानकर उन्हें अपना दिल्ली का राज्य दे दिया। इससे जयचंद तथा पृथ्वीराज में ईर्ष्या उत्पन्न हो गई। जयचंद ने अपनी पुत्री संयोगिता के स्वयंवर में पृथ्वीराज को न बुलाकर अन्य सभी राजाओं को बुलाया और पृथ्वीराज की स्वर्ण प्रतिमा द्वारपाल के रूप में खड़ी करके उन्हें अपमानित किया। संयोगिता ने इसी हेम-प्रतिमा के गले में अपनी 'जयमाल' डालकर अपने पिता से पृथ्वीराज के अपमान का प्रतिशोध लिया। अवसर पाकर पृथ्वीराज तथा उनके सामंत संयोगिता

का हरण कर ले गए। जयचंद इससे और अधिक क्रुद्ध हुआ। बाद में शहाबुद्दीन गौरी ने पृथ्वीराज पर 11 बार आक्रमण किए। अंत में चौहान सम्राट पराभूत हुए और गौरी उन्हें पकड़कर गजनी ले गया और उनकी आंखें फुड़वा दीं। बाद में चंदबरदाई के संकेत से चौहान सम्राट ने गौरी के जीवन को तो समाप्त कर ही दिया, साथ ही अपना तथा चंदबरदाई का भी अंत कर लिया, यही इस काव्य का प्रमुख विषय है।

'पृथ्वीराज रासो' की घटनाओं एवं संवतों के ऐतिहासिक कसौटी पर खरे न उतरने से इसकी प्रामाणिकता संदिग्ध हो गई है।इससे विद्वानों के चार वर्ग हो गए हैं। प्रथम वर्ग के विद्वान पृथ्वीराज रासो को अप्रामाणिक मानते हैं। यह वर्ग न तो चंदबरदाई के अस्तित्व को स्वीकार करता है और न 'रासो'को पृथ्वीराज की समकालीन रचना मानता है। ये विद्वान हैं- कविराज श्यामलदास, कविराज मुरारिदान, गौरीशंकर हीराचंद ओझा, डॉ. बूलर, मारिसन, मुंशी देवीप्रसाद, श्री अमृतलाल शील, रामचंद्र शुक्ल और डॉ. रामकुमार वर्मा। द्वितीय वर्ग चंद को पृथ्वीराज का समकालीन और 'रासो' के वर्तमान रूप को प्रामाणिक मानता है। इस में हैं- श्यामसुन्दरदास, मथुराप्रसाद, मोहनलाल विष्णुलाल पंडया, मिश्र बंधु आदि। तृतीय वर्ग स्वीकार करता है कि पृथ्वीराज के दरबार में चंद नाम का कवि था, जिसने 'रासो' लिखा, किन्तु अब वह अपने मूल रूप में अप्राप्य है। वर्तमान तो परिवर्तित एवं विकृत है। इसका समर्थन डॉ. सुनीत कुमार चटर्जी, डॉ. दशरथ ओझा आदि ने भी किया है। चतुर्थ वर्ग चंद को पृथ्वीराज का समकालीन मानता है, किन्तु उसके अनुसार चंद ने 'पृथ्वीराज रासो'की प्रबंध काव्य के रूप में रचना नहीं की। नरोत्तम स्वामी इसी मत के समर्थक हैं। उक्त मत विषमताओं के होते हुए भी अधिकांश विद्वान पृथ्वीराज रासो को चंद की एक प्रामाणिक रचना मानते हैं। यह जाली ग्रंथ नहीं है। हिन्दी साहित्य में इसका अपना निजी महत्व है। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने तो इस विवाद से ऊबकर यहां तक लिख डाला है-'निरर्थक मंथन से जो प्रस्तर फेन राशि तैयार हुई है, उसे पार करके ग्रंथ के साहित्यिक रस तक पहुंचना हिन्दी के विद्यार्थी के लिए असंभव सा व्यापार हो गया है।'

शारंगधर का हम्मीर रासो- आचार्य रामचंद्र शुक्ल के अनुसार,'हम्मीर रासो' हम्मीर की समसामयिक रचना हो सकती है, जिसके रचयिता शारंगधर हैं। राहुल सांस्कृत्यायन इसे उज्जवल की रचना मानते हैं। इस ग्रंथ की प्रामाणिक सामग्री तथा रचयिता की विवादग्रस्तता के बीच इतना सत्य है कि इस ग्रंथ के समस्त छंद वीर रस के सुन्दर उदाहरण हैं।

लल्हसिंह भाट का विजयपाल रासो- इस ग्रंथ के संबंध में भी प्रामाणिक सामग्री उपलब्ध नहीं हो पाई। यह एक विविध छंदों का 'रासो' काव्य है, जिसमें विजयपालसिंह और बंग राजा के युद्ध का सजीव वर्णन है। इसके रचयिता लल्हसिंह भाट हैं।

भट्ट केदार का जयचंद प्रकाश- जिस प्रकार चंदबरदाई ने अपने काव्य-ग्रंथ 'पृथ्वीराज रासो'में पृथ्वीराज की कीर्ति का वर्णन किया है, उसी प्रकार भट्ट केदार ने कन्नौज के गहरवार क्षत्रिय राजा जयचंद की अपने 'जयचंद प्रकाश' नामक ग्रंथ में यश प्रशस्ति का वर्णन किया है। यह ग्रंथ अब अनुपलब्ध है।

मधुकर का जयमयंक जसचंद्रिका- भट्ट केदार की ही भांति मधुकर कवि ने भी कन्नौज नरेश जयचंद के यश-प्रताप पर आधारित 'जयचंद जसचंद्रिका' नामक एक वृहदाकार प्रशस्ति-ग्रंथ की रचना की है। यह ग्रंथ भी आज अनुपलब्ध है।

अन्य कवि एवं रचनाएं- उक्त कवियों के अतिरिक्त वीरगाथा काल में ही कुछ ऐसे कवि भी हुए, जिन्होंने युग प्रवृत्तियों की सर्वथा उपेक्षा करके स्वतंत्र काव्य रचना की। इनमें खुसरो तथा विद्यापति के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। प्रत्येक का संक्षिप्त परिचय इस प्रकार है-

अमीर खुसरो- अमीर खुसरो का जीवन-काल सं. 1310 से 1381 वि. तक है। ये अत्यंत मिलनसार एवं विनोदी प्रकृति के व्यक्ति थे और फारसी के सफल शायर थे। इन्होंने सबसे पहले जनभाषा में रचना की। इनकी रचनाओं में खड़ी बोली का प्रथम रूप देखने को मिलता है। इनकी पहेलियां, मुकरियां तथा दो सखुने ठेठ साधारण जनता की बोल-चाल में लिखे गए हैं। इन्होंने अंतर्लापिका और बहिर्लापिका पहेलियां लिखी हैं, एक उदाहरण इस प्रकार है-

एक थाल मोती से भरा, सबके सिर पर औंधा धरा।
चारों ओर वह थाली फिरै, मोती उससे एक न गिरै॥

विद्यापति- मैथिल-कोकिल के नाम से हिन्दी-साहित्य के इतिहास में प्रसिद्ध विद्यापति की जन्मभूमि बिहार है, जहां की अमराइयों में उनकी मधुर पदावली के कभी गूंजे स्वर आज भी ध्वनित हैं। संस्कृत कवि जयदेव के 'गीत गोविन्द'के आधार पर इनके द्वारा रचित श्री राधाकृष्ण विषयक मधुर पदावली इन्हें 'हिन्दी का जयदेव' कहलाने में सर्वथा समर्थ है। डॉ. उमेश मिश्र के अनुसार इनका जन्म संवत् 1425 है। यद्यपि इनका काव्य विषय राधा-कृष्ण की भक्ति है, किन्तु इसमें भौतिक प्रेम-प्रधान श्रृंगारिक भावनाएं भक्ति क्षेत्र को पार कर गई हैं। बिहारी की ही भांति इन्होंने भी वय संधि का चमत्कारपूर्ण वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त अपने आश्रयदाताओं का भी नाम लिया है। अत: कुछ विद्वान इन्हें भक्त कवि न मानकर श्रृंगारिक कवि मानते हैं।

हिन्दी साहित्य में भक्तिकाल का आविर्भाव और परिस्थितियाँ

भक्तिकाल का आविर्भाव निम्न परिस्थितियों में हुआ :-

राजनैतिक परिस्थितियां - वीर गाथा काल के समाप्त होते ही साहित्यिक क्षेत्र में क्रान्ति की लहर दौड़ती दिखाई दी। भारत में मुसलमानों का शासन स्थापित हो चुका था। उनका आतंक चारों और छाता चला गया। अनेक हिन्दू राजाओं ने मुसलमान शासकों का आधिपत्य स्वीकार कर लिया। फलत: हिन्दुओं के हृदय से गौरव, गर्व और उत्साह समाप्त होता चला गया। हिन्दुओं के देव मन्दिरों को मुसलमानों ने भूमिसात् करना प्रारम्भ कर दिया। देवताओं की मूर्तियों को तोड़ दिया। आराध्य व पूज्य पुरुषों को अपमानित करना प्रारम्भ कर दिया। ऐसी स्थिति में भी हिन्दू जाति से प्रतिवाद या प्रतिशोध की कोई लहर नहीं उठी। मुस्लिम साम्राज्यवाद का विस्तार होता चला गया और मुसलमानों का भय जनजीवन में व्याप्त होता गया। परिणामस्वरूप वैदिक धर्म अन्तिम सांसें गिनता हुआ जर्जरित होता गया। हिन्दुओं में इतनी शक्ति भी शेष न रह गई थी कि वे अपनी व अपने धर्म की रक्षा कर सकते। नतीजा यह निकला कि वे मुस्लिम शासकों के अधीन रह कर उन्हीं की तरह विलास - प्रिय होते चले गये। वीरगाथा कालीन भावना निष्शेष हो गई। देशी भाषा के कवियों का राजाश्रय समाप्त हो गया था, जिससे काव्य राजदरबार की मीनारों से गिरकर साधुओं व विरक्तों की झोपड़ियों में सांस लेने लगा। अब तक जिस कविता में आश्रयदाताओं की प्रशंसा व स्तुति होती थी, वही अब निराश और खिन्न होकर भगवद् भक्ति की ओर मुड़ गई। यह मोड़ अचानक नहीं आया था, जैसा कि ग्रियर्सन ने स्वीकार किया है।

धार्मिक परिस्थितियां - धार्मिक परिस्थितियां भी शोचनीय हो गईं। राजनैतिक हलचल ने हिन्दुओं के धार्मिक जीवन को भी प्रभावित किया। ब्रजयानी सिद्धान्तों, नाथपंथी, योगियों व कापालियों आदि ने देश से धर्म का स्वरूप मिटा दिया था, जिससे जनता आत्म-कल्याण को तो भूल ही गई, लोक-कल्याण भी भूल बैठी। हां कुछ शास्त्रज्ञ विद्वान इससे अप्रभावित ही रहे तथा निरन्तर सुधार लाने का प्रयत्न करते रहे। निराश जनता ने भक्तों के उद्धारक भगवान से अपनी रक्षा के लिए गुहार लगाना प्रारम्भ कर दिया। मुसलमान शासक कभी शक्ति से और कभी प्रेम से हिंदुओं में मुस्लिम धर्म का प्रचार करना चाहते थे। शासकों की रीति-नीति अज्ञात रूप से शासित एवं शोषित हिन्दुओं को प्रभावित करने लगी। वे प्यार और मार से पददलित समझी जाने वाली जाति पर मुसलमानत्व

थोपने लगे। आत्म - रक्षा के विचार से हिन्दुओं ने मुस्लिम धर्म को समझने का निष्फल प्रयास किया। वे (हिन्दू) निराश और पराजित तो थे ही, अपनी कमजोरी, खिन्न व विषण्ण भावना को छुपाने के लिए अध्यात्म भक्ति की ओर झुकते चले गये। भगवद् भक्ति के अलावा कोई अन्य मार्ग उनके सामने नहीं रह गया था। कुछ मुसलमान कवियों ने भी हिन्दू धर्म को समझने की चेष्टा की, जिससे साहित्य और जीवन में एक नये मोड़ की शुरुआत हुई। यद्यपि यह ठीक है कि एक सीमा तक निराश हिन्दू भगवत् भक्ति की ओर उन्मुख हुए, किन्तु यह पूर्णत: सत्य नहीं है। कारण यह है कि जिस समय उत्तर भारत धार्मिक अत्याचारों का केन्द्र बना हुआ था, तभी दक्षिण में भक्ति की स्रोतास्विनी प्रवाहित हो रही थी, वहां के भक्त ईश्वर से प्राणरक्षा, जीवन रक्षा और उद्धार के लिए प्रार्थना कर रहे थे। अत: मात्र हिन्दुओं के जीवन में व्याप्त निराशा ने ही भक्ति भावना को विकसित नहीं किया है। अत: भक्ति कालीन भक्ति भावना को न तो ईसाइयत की देन ही स्वीकार किया जा सकता है और न धार्मिक अत्याचारों ने भक्ति भावना को अधिक व्यापक रूप से विकसित करने में सहायता पहुंचाई। वस्तुत: भक्ति के इस विकास में कोई एक परिस्थिति प्रमुख नहीं रही है, अनेक परिस्थितियों की प्रेरणा रही है।

सामाजिक परिस्थितियां - राजनैतिक जीवन की उथल-पुथल, धार्मिक अत्याचारों और विषमताओ का प्रभाव तत्कालीन सामाजिक जीवन पर पड़ना स्वाभाविक ही था। अत: ऐसी अनिश्चित अवस्था में सामाजिक जीवन भी विश्रृंखलित होता गया। राजा और सामन्त वर्ग विलासिता में डूबता जा रहा था। प्रजा आर्थिक कष्ट से भाराक्रान्त होकर निर्धनता व निराशा का वरण करती जा रही थी। आर्थिक विपन्नता ने जनजीवन के स्तर को गिरा दिया था। एक ओर तो यह स्थिति थी, दूसरी ओर हिन्दू-मुसलमानों का पारस्परिक संघर्ष एक-दूसरे के प्रति घृणा में परिवर्तित होता जा रहा था। वर्णाश्रम व्यवस्था शिथिल होकर मृतप्राय: होती गई। जाति पांति के भेद बढ़ते गये तथा बहु विवाह की प्रथा बढ़ी। बाल विवाहों का प्रचलन हुआ। सामाजिक संकीर्णता के इस वातावरण् में जो धार्मिकता गौण होती चली जा रही थी, उसे कतिपय प्रतिभाओं ने शुद्ध आध्यात्मिकता की ओर मोड़ दिया। संतों व सूफियों ने यही काम किया है।

भक्तिकाल की सामाजिक-सांस्कृतिक पृष्ठभूमि- भक्तिकाल हिन्दी-साहित्य का स्वर्ण-युग कहा जाता है. इस युग में भक्ति-आन्दोलन से प्रभावित काव्य-रचनाएं हुई। राजपूतों की पराजय ने हिन्दी-काव्य को नवीन दिशा प्रदान की। मुसलमानों से पराजित होकर हिन्दू जन-जीवन में निराशा छा गई। हिन्दुओं के सामने उनके मंदिर गिराये जाते थे और उनके देवी-देवताओं का अपमान होता था, परन्तु शक्ति के अभाव में वे सभी कुछ सहन करते रहते थे। उनमें प्रतिकार लेने की शक्ति नहीं रह गई थी। आश्रयदाता राजा और उनका शौर्य ही जब समाप्त हो गया था, तब वीर गाथाओं को कौन लिखता व कौन सुनता ? अत: वीर-काव्यधारा भक्ति-काव्यधारा में शान्ति और विश्राम पाने हेतु विलीन हो गई।

भक्ति-काव्य के उदय में राजनीतिक परिस्थितियों का बहुत कुछ योग रहा। परन्तु इस कथन में आंशिक सत्यता ही है कि मुसलमानों से पराजित होकर हिन्दू-समाज भक्ति की ओर उन्मुख हुआ। दक्षिण के शान्त वातावरण में जहां मुसलमानों का प्रभाव तक नहीं था, भक्ति का प्रचार हो रहा था। आलवार सन्त भक्ति की धारा प्रवाहित कर रहे थे। रामानुजाचार्य और विष्णु स्वामी ने विष्णु के साकार रूप की प्रतिस्थापना की। यह दक्षिण की भक्ति-धारा इतने वेग से प्रवाहित हुई की उत्तरापथ में जान्हवी बनकर जन-जीवन को प्लावित करने लगी। बहुत पहले से देश के पूर्वी तथा पश्चिमी प्रदेशों में सिद्ध और नाथपंथी क्रमश: प्रचार-कार्य कर रहे थे। ये धर्म, कर्म, ज्ञान और उपासना के समन्वित रूप को न समझा सके परन्तु जन-साधारण के भीतर इनका बहुत प्रभाव था। कबीर आदि सन्तों तथा जायसी आदि सूफी कवियों पर इनका पर्याप्त प्रभाव पड़ा। अत: यह कहना ठीक नहीं है कि भक्तिकाल का आरम्भ एक अचानक घटना के रूप में हुआ, जो मुसलमानों के द्वारा हिन्दुओं

के पराजित होने से घटित हुई थी। इसके लिए तो बहुत पहले से मेघ-खंड एकत्र हो गये थे, किन्तु इतना तो मानना ही पड़ेगा कि मुसलमानों के विजय-गर्व युक्त अत्याचारों ने भक्ति-प्रवाह को तीव्रता अवश्य प्रदान की। भक्ति-काव्य की यह धारा इतने वेग से प्रवाहित हुई कि सहृदय मुसहमान भी इससे न बच सके। भक्ति-काव्यधारा के विकास का मुख्य आधार भारत का धामिक और भक्ति-आन्दोलन है। 'श्रीमद्भगवद्गीता' में भक्ति का पूर्ण रूप से प्रतिपादन किया गया है।

आगे चलकर रामानुजाचार्य की शिष्य-परम्परा में स्वामी रामानन्द जी हुए जिन्होंने विष्णु के अवतार राम की उपासना का प्रचार किया। दूसरी ओर श्री वल्लभाचार्य ने प्रेम-मूर्ति श्रीकृष्ण को सामने लाकर जनता को रसमग्न कर दिया। इस प्रकार राम-भक्ति और कृष्ण भक्ति धारा का विकास हुआ। आगे चलकर कृष्ण-भक्ति शाखा में सूरदास और राम-भक्ति शाखा में तुलसीदास प्रमुख कवि हुए।

इस प्रकार भारत में सगुणोपासना का क्षेत्र तैयार हो चुका था, किन्तु देश में मुसलमान स्थायी रूप से बस चुके थे। वे साकारोपासना के विरेधी थे। अत: ऐसे सामान्य भक्ति-मार्ग की आवश्यकता हुई, जिसमें हिन्दू-मुसलमान दोनों ही योग दे सकें। मुसलमानों का विश्वास एकेश्वरवाद में था। वे मूलत: निर्गुणोपासक थे। हिन्दुओं में भी निराकारोपासना की मान्यता थी। वेदों तथा उपनिषदों से लेकर निर्गुण-निराकार की उपासना हिन्दुओं में चली आ रही थी। अत: इस सामान्य उपासना-पद्धि को लेकर सन्त और सूफी कवियों ने निर्गुणोपासना का प्रचार किया। कबीर आदि ज्ञानमार्गी सन्तों ने मुस्लिम एकेश्वरवाद और भारतीय अद्वैतवाद को आधार बनाया, जबकि जायसी आदि प्रेममार्गी कवियों ने सूफी प्रेमवाद और भारतीय अद्वैतवाद का समन्य अपनी साधना-पद्धति में किया। इस प्रकार भक्तिकाल में साकारोपासना और निर्गुणोपासना की दो धाराएं सानान्तर रूप से प्रवाहित होती रहीं।

निष्कर्ष

संक्षेप में यही कहा जा सकता है कि भक्तिकाल के प्रादुर्भाव के मूल में जहां एक ओर सांस्कृतिक और धार्मिक भावना कार्यशील रही है, वहीं समय का सहयोग पाकर यह विकसित व पल्लवित होती गई। इस भावना के मूल में न तो राजनैतिक परस्थितियां ही हैं और न कोई विदेशी प्रभाव ही है। हां उन दोनों ने दक्षिण भारत से विकसित भक्ति भावना को पल्लवित होने में सहयोग अवश्य दिया है। सगुण भक्ति तो उत्तर में पहले से प्रचलित थी ही, उसके दो रूप भक्ति काल में हो गये - कृष्ण भक्ति व राम भक्ति। साथ ही बौद्धों के ध्वंसावशेष सिद्धों व नाथों से प्रेरित होकर निर्गुण काव्यधारा का विकास हुआ, जिसने ज्ञानमार्गी व प्रेममार्गी दो धाराओं में अपना विकास किया। अत: यही कहा जा सकता है कि भक्ति काल का प्रादुर्भाव तात्कालीन राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और दार्शनिक परिस्थितियों की प्रेरणा से हुआ। दक्षिण भारत में पनपी भक्ति भावना को तत्कालीन परिस्थितियों ने प्रकट किया और एक पवित्रता के साथ भारतीय जीवन में भक्ति भावना आविर्भूत हुई।

भक्तिकाल की सामान्य प्रवृत्तियाँ और श्रेष्ठतम युग

प्रत्येक काल का साहित्य कुछ विशेष प्रकार की प्रवृत्तियों एवं मान्यताओं को लेकर लिखा जाता है। दूसरे प्रत्येक काल की अपनी मान्य विशेषताएं ही उस काल के साहित्य को दूसरे काल से पृथक करती हैं । इस दृष्टि से विचार करने पर भक्तिकाल का साहित्य निश्चित ही अपने पूर्ववर्ती साहित्य से पृथक एवं विशिष्ट है। तथ्य तो यह है कि जितनी सफलता से भक्तिकाल के साहित्य ने जनजीवन को प्रभावित एवं आँदोलित किया, अन्य किसी भी काल का साहित्य न कर सका।

इसकी यह विशेषता सर्वाधिक महान और ग्राह्य है। वास्तव में भक्ति साहित्य ने भारतीय जन-मानस को जीवन का एक नया आलोक प्रदान किया, इसने आशा आकांक्षा से भरा जीवन जीने की कला सिखाई। मन, बुद्धि और आत्मा को समान रूप से रसान्वित कर एक विशेष सन्तुष्टि प्रदान की। डा. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि यह समूचे भारतीय इतिहास में अपने ढंग का अकेला साहित्य है। इसी का नाम भक्ति साहित्य है। यह एक नई दुनिया है। डा. श्याम सुन्दर दास ने तो भक्ति साहित्य रचे जाने के काल को स्वर्ण युग नाम से सम्बन्धित करते हुए लिखा है कि जिस युग में कबीर, जायसी, तुलसी, सूर जैसे सुप्रसिद्ध कवियों और महात्माओं की दिव्य वाणी उनके अन्त:करणों से निकल कर देश के कोने-कोने में फैली थी, निश्चय ही वह हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग था।

हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य का पूर्ण मध्य युग भक्तिकाल नाम से अभिहित किया जाता है। भक्तिकाल शब्द ही अपने प्रतिपाद्य को स्पष्ट करने वाला है, अर्थात् इस काल में भक्तिपरक रचनाओं की प्रधानता रही है। कुछ विद्वानों ने इस काल को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा है। उनकी दृष्टि में हिन्दी काव्य का श्रेष्ठतम अंश इसी काल में उपलब्ध होता है। वस्तुत: निर्गुण और सगुण धाराओं में प्रवाहित होने वाला यह काव्य गुणवत्ता और परिणाम दोनों दृष्टियों से अत्यन्त समृद्ध है। काव्य विधाओं के आधार पर भी इस काल के लिए स्वर्णयुग शब्द का प्रयोग किया गया था। तब उन विद्वानों के समक्ष वर्तमान युग का प्रचुर साहित्य नहीं था, अर्थात् यह शब्द आज से लगभग अर्ध शताब्दी पूर्व प्रयोग में आया था और तब तत्कालीन समस्याओं में भक्ति काल से श्रेष्ठ काव्य की कल्पना करना सम्भव नहीं था। इसे स्वर्ण युग प्रमाणित करने वाले तत्व ये हैं -

(1) **निर्गुण सन्त काव्य : स्वर्ण युग के रूप में -** भक्तिकाल का प्रारम्भ निर्गुण सन्त काव्य से होता है। इस धारा के कवियों में उन सन्त कवियों का स्थान है, जिन्होंने एकेश्वरवाद में आस्था व्यक्त करते हुए निर्गुण निराकार ईश्वर की भक्ति का संदेश दिया। भक्ति के क्षेत्र में संत कवि भारतीय निर्गुण भावना के समीप होते हुए अद्वैतदर्शन के प्रतिपादक थे, किन्तु दर्शन की मात्र पीठिका ही उन्हें स्वीकार्य थी, दार्शनिक मतवाद या भेदभाव के प्रपंच से उनका साक्षात कोई सम्बन्ध नहीं था। सामाजिक स्तर पर इन सन्तों ने पाखण्ड एवं अंधविश्वासों का पूरी दृढ़ता के साथ खंडन किया। मिथ्या आडंबरों के प्रति जैसी अनास्था इन सन्त कवियों ने व्यक्त की, वैसी न तो पहले कभी कोई समाज सुधारक कर सका था और न परिवर्तन युग में ही किसी का वैसा साहस हो सका। इन संत कवियों का एक बड़ा भाग निम्न वर्ग से सम्बन्ध रखता था, किन्तु आचरण की पवित्रता और आचरित सत्य की निष्ठा के कारण इनकी वाणी का प्रभाव समाज के उच्च वर्ग पर भी पड़ा था। निर्गुण सन्तों के द्वारा तत्कालीन समाज में एक प्रकार की वैचारिक क्रान्ति का उदय हुआ और परम्परागत रूढ़िवादिता पर इन्होंने गहरा प्रहार किया। विद्वान दार्शनिक पण्डितों का प्रभाव एक सीमित शिक्षित वर्ग तक था, किन्तु इन कवियों की वाणी का प्रभाव सामान्य जनता पर भी पड़ा और सभी वर्गों के व्यक्ति इनसे प्रभावित हुए। सन्त कवियों के पास धर्म, दर्शन, शक्ति और चरित्र निर्माण के लिए अपना निजी संदेश था। धर्म के क्षेत्र में संकीर्णता के ये घोर विरोधी थे, दर्शन के क्षेत्र में अद्वैत-दृष्टि से एकेश्वरवाद के समर्थक थे। भक्ति के क्षेत्र में ये कर्मकाण्ड रहित निष्ठा और समर्पण में विश्वास रखते थे और चरित्र विकास के लिए आचरित सत्य को जीवन निर्माण की कसौटी मानते थे।

(2) **समन्वय दृष्टि -** विजयेन्द्र स्नातक का मत है कि 'सन्तों में समन्वय दृष्टि का स्वस्थ रूप से विकास हुआ था। कबीर, नानक, दादू, हरिदास, निरन्जनी आदि सन्तों ने जिस रूप से विचार व्यक्त किये हैं, उसका आधार कोई एक विचारधारा या मतवाद नहीं है। अद्वैतवाद, वैष्णवों की भक्ति भावना, सिद्धों नाथों की सहज सरल साधना आदि का जिस पद्धति से इन्होंने समन्वय किया था, वह सर्वजन्य सुलभ थी, फलत: सामाजिक स्तर पर इनका समन्वय ग्राह्य बन गया था। संतों ने शास्त्र

वचन को प्रमाण नहीं माना। शास्त्र की अवहेलना एक कठिन चुनौती थी, लेकिन अनुभूति को प्रमाण मानने से शास्त्र मर्यादा भी शिथिल हो गई। मानव को परम्परागत रूढ़ शास्त्र परम्परा से मुक्ति केवल इन निर्गुण संत कवियों की आत्मानुभवमयी दृढ़ वाणी से ही मिली थी। वस्तुत: ये कवि अपने युग के मिथ्याडम्बरों और धार्मिक रूढ़ियों के खोखलेपन से परिचित होकर ही सत्य के उद्‌घाटन का साहस कर सके थे। जिसे एक बार सत्य का बोध हो जाता है, वह किसी भी मिथ्या या अनुभूति तथ्य को प्रमाण नहीं मानता।'

(3) **अटूट आस्था व भक्ति** - इस युग के संत कवि ईश्वर की सत्ता और सर्व शक्तिमता में अटूट विश्वास रखने के कारण अत्यन्त निर्भीक, स्पष्टवादी, साहसी और सत्यवादी थे। किसी भी धर्म की मिथ्या धारणाओं का खण्डन करते समय इनके मन में भय का संचार नहीं होता था। कबीर ने तो स्पष्ट शब्दों में कहा था कि में चौराहे पर सिर पर कफन बांधकर खड़ा हूं, सत्य को प्रकट करते समय मुझे किसी का भय नहीं है, जिसमें सत्य को प्रकट करने का साहस हो, वह मेरे साथ आये। ऐसे क्रान्तिकारी विचारों का उद्‌घोष करना उस युग में सम्भव हो सका, यह आश्चर्य की बात नहीं है।

(4) **सहज भाषा** - यह ठीक है कि भक्त कवियों ने काव्यशास्त्र का अध्ययन नहीं किया था, जीवन के विद्यालय में सत्य और अनुभूत सत्य का पाठ ही ये पढ़ते रहे किन्तु कविता के माध्यम से इन्होंने जो कुछ लिखा, काव्यहीन भी नहीं है। जिस साधारण और सहज भाषा को इन्होंने अपनाया था, वह जन-भाषा थी और साधारण जनता के अधिक निकट होने के कारण लोकप्रिय भी थी। इस भाषा की लोकप्रियता का यही प्रमाण है कि इनकी रचनाएं जनता के दैनिक व्यवहार और बोलचाल में सूक्तियों के रूप में स्थान पा गई हैं। आज भी इन संतों की उक्तियों का प्रयोग हम व्यावहारिक भाषा में करते हैं।

(5) **गुरु वन्दना और महत्वांकन** - भक्तिपूरित हृदय वाले कवियों ने गुरु को विशेष आदर व महत्व दिया है। एक बात और ध्यातव्य है - इन संतों ने अपने युग में जिन धाराओं और मान्यताओं का खण्डन किया उन्हीं को इनके नाम पर परवर्ती युग में पंथ या मत के रूप में स्थान मिला। कबीर पंथ, नानक पंथ, मूलदासी, शिवनारायणी आदि पन्थों का उदय इस को प्रमाणित करता है कि सन्तों की साधना, उनके बाद पुन: पूजा का विषय बन गई। गुरु पूजा तो इन पंथों में अनिवार्य हो गई। नानक के नाम से सिक्ख मत का उदय हुआ, तो कबीर के नाम से कबीर पंथ चल पड़ा। वस्तुत: जनता की मनोवृत्ति अन्धानुकरण की होती है।

(6) **सामाजिक हित** - यदि निर्गुण सन्त काव्य परम्परा के भक्त कवियों की वाणी के मूल उद्देश्य पर विचार किया जाए तो, वह मानव समाज के सामूहिक कल्याण की वाणी है। दूसरे शब्दों में उसे धर्म निरपेक्ष सत्योन्मुखी वाणी कह सकते हैं। संतों ने तथाकथित जाति या वर्ण व्यवस्था को स्वीकार न कर मानवमात्र को एक धरातल पर खड़ा किया था। उनकी दृष्टि से मानवतावाद ही एक ऐसा स्तर था, जिस पर समाज की व्यवस्था संभव थी। जिस लक्ष्य को ये सन्त कवि प्राप्त करना चाहते थे, वह सार्वजनिक हित से समन्वित सर्व जन सुलभ ध्येय था। अत: अपने युग में इन्होंने एक व्यापक वैचारिक क्रान्ति को जन्म देकर भारतीय जनता के समक्ष एकेश्वरवाद, सदाचार, सत्य, क्षमता और शाश्वत धर्म का आदर्श प्रस्तुत किया था। अवतारवाद, पूजा-सेवा, रोजा-नमाज, मन्दिर-मन्दिर, तीर्थ व्रत आदि को इन्होंने स्वीकार नहीं किया था।

(7) **प्रेमाख्यानक काव्य और भक्ति काव्य** - निर्गुण संत कवियों के साथ ही उस युग में एक दूसरी काव्यधारा भी प्रवाहित हो रही थी, जिसे हिन्दी साहित्य के इतिहास ग्रन्थों में प्रेमाख्यानक काव्य के नाम से अभिहित किया जाता है। भक्तिकाल को स्वर्ण युग बनाने में प्रेमाख्यान काव्य की दो धाराएं प्राप्त होती हैं --- एक धारा के कवि आध्यात्मिक प्रेम अर्थात् ईश्वरीय प्रेम के आख्यानों कविता के माध्यम से अंकित करते हुए उसे किसी अन्य लोक की अथवा अध्यात्म की कथा नहीं

बनाते। इस दूसरी धारा के कवियों को हिन्दी साहित्य में वह श्रेष्ठ स्थान नहीं प्राप्त हो सका, जो पहली धारा के कवियों को प्राप्त है।

(8) सगुण भक्ति काव्य और स्वर्ण युग - हिन्दी साहित्य का भक्ति काल निर्गुण सन्त कवियों के द्वारा जिस प्रकार स्वर्ण युग प्रतीत होता है, उसी प्रकार सगुण भक्ति कवियों के द्वारा भी इस काल को स्वर्ण युग की अभिधा दी जा सकती है। सगुण भक्ति के रूप में उस काल की राम और कृष्ण काव्य धाराएं विशेष प्रसिद्ध हैं। राम काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि तुलसीदास और कृष्ण काव्यधारा के प्रमुख कवि सूरदास ने भक्ति काव्य को सर्वोत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत किया है। इन दोनों कवियों के माध्यम से सगुण भक्ति काव्य विषय वस्तु, रसात्मकता, भावात्मकता, कलात्मकता और भक्ति भावना के रूप में स्वर्णिम रूप लेकर प्रस्तुत हुआ है। निर्गुण कवियों की भांति ही सगुण भक्ति कवियों ने हिन्दू जनता में ईश्वर के प्रति विश्वास पैदा किया, निराश हिन्दू जनता को नयी दिशा प्रदान की, भगवान के शक्तिशाली और सौन्दर्य से युक्त स्वरूप की झांकी प्रस्तुत की और लोक-मानव को मानवीय सम्बन्धों व पारिवारिक सम्बन्धों के प्रति सजग बनाया। वैष्णव भक्त कवियों ने साम्प्रदायिक स्तर पर कृष्ण भक्ति का विविध रूपों में विकास किया और इस प्रकार भक्ति काल को स्वर्ण युग की संज्ञा दिलाने में उल्लेखनीय कार्य किया। काव्य शिल्प की दृष्टि से भी सगुण और निर्गुण दोनों ही श्रेणी के कवियों ने इस काल को भक्ति युग ही नहीं, अपितु स्वर्ण युग के निकट लाने का सार्थक प्रयास किया है।

निष्कर्ष

संक्षेप में कह सकते हैं कि भक्तिकाल का साहित्य अपनी अनेक विशेषताओं के कारण और कलात्मक और भावात्मक सौन्दर्य के कारण ही नहीं अपितु भाषा की सरसता और लोकहित की दृष्टि से स्वर्ण युग की अभिधा से मण्डित करने योग्य है। अत: कह सकते हैं कि हिन्दी साहित्य का पूर्व मध्यकाल निश्चित ही स्वर्णयुग था, जिसमें भाषा, भाव, अलंकार के कौशल के साथ-साथ मानव जीवन के हित का स्रोत भी प्रवाहित हुआ है।

निर्गुण भक्ति काव्यधारा की प्रमुख विशेषतायें

हिन्दी साहित्य के भक्तिकाल की धारा को डा. रामकुमार वर्मा ने 'सन्त काव्य परम्परा' का नाम दिया। डा. पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने संत शब्द की व्युत्पत्ति शांत शब्द से मानी है और इसका अर्थ निवृत्ति मार्ग या बैरागी किया है। आचार्य प. परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि संत शब्द उस व्यक्ति की ओर संकेत करता है, जिसने संत रूपी परमतत्व का अनुभव कर लिया हो और जो इस प्रकार अपने व्यक्तित्व से ऊपर उठकर उसके साथ तद्रूप हो गया हो, सतत् स्वरूप, नित्य सिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुका हो अथवा अवरोध की उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्य में प्रतिष्ठित हो गया हो, वही संत है।

सामान्य विशेषताएं

संत- मत का आविर्भाव हिन्दी साहित्य के इतिहास में एक महत्वपूर्ण घटना है। देश की विचित्र परिस्थितियों ने इस मत को जन्म दिया और संत मत के सामान्य भक्ति मार्ग में विविध वादों का समन्वय हुआ। इसमें हिन्दू-मुसलमान, गोरख पंथी, वेदान्ती, सूफियों एवं वैष्णवों के धार्मिक सिद्धान्तों का भी समन्वय हुआ। संक्षेप में इस मत के कवियों की सामान्य विशेषताओं को निम्नलिखित शीर्षकों के अन्तर्गत रखा जा सकता है -

1. **काव्य-रचना मुख्य उद्देश्य नहीं -** संत कवियों का लक्ष्य काव्य रचना नहीं था. उनकी रचनाओं में जन-जन के हित और उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। भावों के स्पष्टीकरण के लिए उन्होंने प्रतीकों, उपमाओं, रूपकों की योजना अवश्य की है, किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि काव्योत्कर्ष

अथवा काव्य सौष्ठव उनका साध्य नहीं था, उनकी भाषा का रूप भी स्थिर नहीं है। कविता को ये संत अपनी अनुभूत सत्यों का मर्म दूसरों के समक्ष अभिव्यक्त करने का एक उत्तम माध्यम समझते थे।

2. **तत्व चिन्तन का स्वरूप** - संत कवि मूलत: दार्शनिक थे फिर भी उनकी भक्ति रस से सिक्त बानियों में दार्शनिक तत्वों के निरूपण का प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष प्रयत्न अवश्य दृष्टिगोचर होता है। डॉ. बड़थ्वाल के मत से संत कवियों का परम तत्व एकेश्वरवादी विचारधारा से पुष्ट अद्वैतवाद के अधिक निकट है। संतों का ब्रह्मा त्रिगुणातीत, द्वैताद्वैत, विलक्षण, अलख, अगोचर, सगुण, निर्गुण से परे, प्रेम पारावार और दार्शनिकवादों तथा तर्कों से ऊपर है। वह अनुभूतिगम्य और सहज प्रेम से प्राप्य है।

3. **साधना मार्ग** - संतों की साधना का भवन ज्ञान, कर्म, योग और भक्ति इन चारों स्तम्भों के सहज संतुलन पर टिका हुआ है। जिस प्रकार संत लोग अन्य विचारों में प्रगतिशील हैं वैसे ही साधना मार्ग के निर्धारण में भी पर्याप्त सजग हैं। निर्गुण संत ज्ञानत्मिका भक्ति के उपासक हैं। कोरा ज्ञान उन्हें अहंकार मूलक प्रतीत हुआ है। पोथी ज्ञान के भी वे विरोधी हैं। पोथी ज्ञान के भार से लदा हुआ आदमी उस गधे के समान है जो चन्दन का भार ढोकर भी उसकी सुगन्ध का सुख नहीं प्राप्त कर सकता। इसी प्रकार प्रत्यक्ष, अनुमान और अप्रत्यक्ष इन तीनों प्रमाणों में से ये संत केवल प्रत्यक्ष या अनुभूति जन्य ज्ञान को ही प्रमाणिक मानने के पक्ष में हैं। कबीर ने कहा भी है 'तू कहता कागज की लेखी, मैं कहता आखिन की देखी।'

4. **भक्ति मार्ग** - सत्य भाषण और सत्याचरण को संत कवि भक्ति का सर्वप्रमुख तत्व मानते हैं। इसी को वे अपने शब्दों में कथनी की समरसता की संज्ञा देते हैं। नाम जप या 'नाम स्मरण' संतों की भक्ति का मूल आधार है। भक्ति के प्रेरक तत्वों में श्रद्धा, सत्संग, उपदेश, गुरु, जीवन तथा जगत की क्षण भंगुरता के ज्ञान से उत्पन्न वैराग्य भावना आदि का स्थान महत्वपूर्ण है। संत कवियों ने इन सबकी आवश्यकता और महत्ता का विवेचन विस्तार से किया है। आश्रय में निहित प्रेम या भक्ति को अभिव्यक्त करने वाले तत्वो में दैन्य, आत्म - निवेदन मय आसक्ति आदि मुख्य हैं।

5. **सूफीमत का प्रभाव** - संत मत पर सूफी प्रेम साधना का प्रभाव भी स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है। कबीर ने लिखा है -

प्रेम बिना धीरज नहीं, विरह बिना वैराग।
सतगुरु बिन जावै नहीं, मन मनसा का दाग।
जोगी जनम से बड़ा, सन्यासी दरवेस।
बिना प्रेम पहुंचे नहीं, दुरलभ सतगुरु देस।

6. **रहस्यवाद की प्रवृत्ति** - संत कवियों ने शंकराचार्य के अद्वैत मत को लेकर अपनी रहस्यवादी भावनाओं की अभिव्यक्ति की है.किन्तु इनका रहस्यवाद माधुर्य भाव से वेष्टित है। इन संत कवियों के विरह में लौकिक दाम्पत्य भाव के सहारे आत्मा का शाश्वत क्रन्दन व्यक्त किया गया है और यह मिलन सहज नहीं है।

7. **रूढ़ियों और आडम्बरों का विरोध** - प्राय: सभी सन्त कवियों ने रूढ़ियों, मिथ्याडम्बरों तथा अन्धविश्वासों की कटु आलोचना की है। इन्होंने मूर्ति पूजा, धर्म के नाम पर की जाने वाली हिसा, तीर्थ, व्रत, रोजा, नमाज, हज्ज आदि विधि विधानों, बाह्यआडम्बरों, जाति-पांति भेद आदि का डटकर विरोध किया है।

8. **नारी के प्रति दृष्टिकोण** - संत कवियों ने नारी को माया का प्रतीक माना है। उनके विश्वासानुसार कनक और कामिनी ये दोनों दुर्गम घाटियां हैं। कबीर का कहना है कि -

नारी की झाई परत, अन्धा होत भुजंग।
कबीरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग।

जहां इन्होंने नारी की इतनी निन्दा की है वहीं दूसरी और सती और पतिव्रता के आदर्श की मुक्त कण्ठ से प्रशंसा की है। कबीर ने कहा है -

पतिव्रता कैसी भली, काली कुचित वुरूप।
पतिव्रता के रूप पर, बारो कोटि सरूप॥

9. **लोक संग्रह की भावना** - इस वर्ग के सभी कवि पारिवारिक जीवन व्यतीत करने वाले थे। नाथ पंथियों की भांति योगी नहीं थे। संतों ने आत्म शुद्धि पर बहुत बल दिया है। जहां एक और संत लोग कवि और भक्ति आन्दोलन के उन्नायक हैं, वहां समाज सुधारक भी। संत काव्य में उस समय का समाज प्रतिबिम्बित है।

सन्त साहित्य की प्रगतिशीलता का कारण

सन्त कवियों का लक्ष्य काव्य रचना नहीं था। उनकी रचनाओं में जन-जन के हित और उसके उद्‌बोधन की भावना सन्निहित है। सन्त सम्प्रदाय विश्व सम्प्रदाय है और उसका धर्म विश्व धर्म है। इस विश्व धर्म का मूलाधार है - हृदय की पवित्रता। संतों की प्रगतिशील विचार धारा का एक प्रमुख कारण यह है कि इस मत का प्रचार निम्न वर्ग के अशिक्षित लोगों में रहा। इन संतों ने अगर एक ओर गुरु, भक्ति, साधु-संग, दया, क्षमा, सन्तोष आदि का उपदेश दिया है तो दूसरी ओर वे कपट, माया, तृष्णा, कामिनी, कांचन तीर्थ, व्रत, मांसाहार, मूर्ति पूजा और अवतारवाद के विरोधी थे। जिस युग में संत मत के कवियों की सृष्टि हुई वह अज्ञान, अशिक्षा और अनैतिकता का युग था, संतों की पीयूष वर्षिणी उपदेशमयी वाणी ने उनमें एक दृढ़ नैतिकता की प्रतिष्ठा की। अपनी इसी प्रगतिशील विचारधारा के कारण इस सम्प्रदाय ने धर्म का ऐसा स्वाभाविक, निश्छल, व्यवहारिक तथा विश्वासमय रूप जन भाषा में उपस्थित किया जो विश्वधर्म बन गया और अब भी जन जीवन में पुनः जागरण का संदेश दे रहा है। इनकी वाणी में जो उपदेश हैं वे केवल दर्शन का विषय न होकर जीवनरस से ओत-प्रोत हैं। उनमें अनुभूति, सौष्ठव और जीवन का अमर संदेश है। संत साहित्य की प्रगतिशीलता का एक मुख्य कारण तत्कालीन परिस्थितियां थीं। मुसलमानी संस्कृति के प्रभाव से हिन्दू जाति के निम्न वर्ग में नवीन जागृति आई। उन्होंने देखा कि मुसलमानों में जांति-पांति तथा छुआछूत का कोई भेद नहीं है। सहधर्मी होने के कारण वे सब समान हैं। इस स्थिति को देखकर संतों ने रूढ़िवाद एवं मिथ्याडम्बर का विरोध करना शुरू कर दिया। 'जाति-पांति न पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' के अनुसार उनके मत में जाति-पांति का कोई महत्व नहीं था। संत लोग साधारण धर्म तो मानते थे, किन्तु साम्प्रदायिकता या वर्णाश्रम सम्बन्धी विशेष धर्म के पक्ष में न थे। संतों ने वर्णाश्रम व्यवस्था का समूल नाश करना चाहा। चाहे संस्कृति की दृष्टि से यह हेय हो किन्तु तत्कालीन परिस्थिति के कारण यह आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी। उन्होंने हीन वर्णों को उच्च वर्गों के स्तर पर लाने की चेष्टा की। संतों ने जिस साधारण धर्म को स्वीकार किया है, वह एक प्रकार से शुद्ध मानव धर्म ही है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मुसलमान एकेश्वरवादी, पैगम्बर धर्म का मूर्ति खण्डन और एकेश्वरवादी और हिन्दू मुस्लिम भिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के कारण जो विषम परिस्थितियां उत्पन्न हो गई थीं, उनका प्रभाव सन्तमत पर स्पष्ट है। वास्तव में निर्गुण सन्त काव्य धारा अपने समय का पूरा प्रतिनिधित्व करती है।

'संत' शब्द का अर्थ और संत काव्य की विशेषतायें

सन्त-काव्य का तात्पर्य- सन्त शब्द का संबंध प्राय: शान्त सन्त तथा आंग्ल भाषा के सेन्ट (Saint) आदि विविध शब्दों से जोड़ा गया। व्युत्पत्ति की दृष्टि से वह संस्कृत की 'अस्' धातु के वर्तमान कृदन्त रूप 'सत्' के बहुवचन रूप 'सन्त:' से निर्मित है। "ऋग्वेद में 'सत्' का प्रयोग ब्रह्म के लिये (सम्भवत: उसकी नित्य सत्ता के बोध के लिये) हुआ एवं 'तैत्तरीय उपनिषद्' में 'ब्रह्मविद्' के लिए भी। बाद में इसका प्रयोग (ब्रह्मविद् के) अच्छे भाव और अच्छे कर्मों के लिये होने लगा और फिर तो सामान्य रूप से 'सत्' का अर्थ 'अच्छा', 'असत्' का 'बुरा हो गया।.....एकवचन 'सत्' के बदले जो उनका बहुवचन रूप 'सन्त' के लिए उपयुक्त हुआ, वह हिन्दी के लिए कोई असाधारण बात नहीं है।" जहाँ तक सम्बन्ध है, इस शब्द के अर्थ का तो वह समय-समय पर नाना अर्थ देता रहा है। एक अद्वितीय परमतत्व (ऋग्वेद एवं तैत्तरीय उपनिषद), सदाचारी (महाभारत), पवित्रात्मा, (भागवत), परोपकारी (भर्तृहरि) बुद्धिमान और सदासद्विवेकी (कालिदास), मायातीत महापुरुष (कबीर) आदि इसके कुछ ऐसे ही अर्थ हैं। यहाँ तक कि मध्यकाल में सन्त एवं भक्त परस्पर पर्याय थे यद्यपि "16 वीं-17 वीं शताब्दी में नीची जातियों में उत्पन्न होने वाले, ब्राह्मण, वेद तथा दशरथि राम के प्रति अनास्थाशील जिन 'भक्तों' को जनता सन्त कहती थी और गोस्वामी जी ने जिन्हें निरा गंवार, ज्ञानाभिमानी, मूढ़ और पाखण्डी कहकर स्वीकार किया, 19 वीं शताब्दी में 'सन्त' उनका विशेषण न रहकर संज्ञा बन गया। इसी से, पारिभाषिक-प्रचलित अर्थ में, "सन्त शब्द का प्रयोग किसी समय विशेष रूप से सिर्फ उन भक्तों के लिये ही होने लगा था जो बिट्ठल या वारकारी सम्प्रदाय के प्रधान प्रचारक थे एवं जिनकी साधना निर्गुण भक्ति के आधार पर चलती थी। x x x x सन्त शब्द इनके लिए प्राय: रूढ़-सा हो गया था तथा कदाचित् अनेक बातों में उन्हीं के समान होने के कारण उत्तरी भारत के कबीर साहब एवं अन्य ऐसे लोगों का भी वही नामकरण हो गया।" यूँ तो भारतीय परम्परा में सन्त कई प्रकार के माने बताये गये हैं एवं ऋषि सन्त, राजा सन्त, सुधारक और ज्ञानी सन्त, देवकोटि के सन्त, साधारण वर्णों के सन्त, नारी सन्त तथा पशु-पक्षी सन्तादि। फिर भी, मध्यकालीन हिन्दी काव्य के सन्दर्भ में, यह शब्द ज्ञानाश्रयी अथवा ज्ञानमार्गी निर्गुण भक्त-कविसमुदाय का सूचक है। इसी से, "सन्त शब्द आजकल अपनी पूर्ववर्ती उदात्त अर्थ-मर्यादा से विच्छिन्न होकर ऐसे ज्ञानी भक्तों की पारिभाषिक (और साम्प्रदायिक) संज्ञा बन गया है, जो नीची जातियों में उत्पन्न हुए हैं, ब्राह्मण, वेद तथा सगुण ब्रह्म में आस्था नहीं रखते, जाति-पाँति के बन्धनों को स्वीकार नहीं करते हैं एवं आदि सन्त, कबीर, कबीर के किसी अनुयायी या कबीर जैसी कथनी-करनी वाले भक्त को अपना गुरु मानते हैं तथा उनके मत, रीति-नीति, आचार-व्यवहार तथा साधना की सीधी परम्परा में पड़ते हैं।" इन्हीं की काव्य-रचनायें समग्रत: 'सन्त-काव्य' कही जाती हैं।

सन्त काव्य- पृष्ठभूमि और परम्परा :- भारत में ब्रह्म के निर्गुण रूप की उपासना तो प्राचीन काल में ही प्रारम्भ हो चुकी थी, पर कालक्रम से सर्वप्रथम महाराष्ट्र के निर्गुण कवियों को 'सन्त' की संज्ञा दी गयी। विट्ठल या वारकरी सम्प्रदाय के साधक 'सन्त' ही कहलाते थे। सम्भवत: उन्हीं के अनुकरण पर, आगे चलकर कबीरादि को भी 'सन्त' और उनकी रचनाओं को 'सन्त काव्य' कहा जाने लगा जो कालान्तर में रूढ़ ही बन गया। यूँ, कबीर से पहले भी जयदेव, सधना, वेणी, नामदेव, त्रिलोचन, रामानन्द और सेना आदि सन्तों के उल्लेख मिलते हैं। कबीर के समकाल तथा परवर्तीकाल में तो इनकी पूरी श्रृंखला ही मिलती है। रैदास, पीपा, धन्ना, कमाल, धर्मदास, सिंगा जी, दादू, रज्जब, मलूकदास, सुन्दरदास, प्राणनाथ, धरनीदास, यारी साहब, बुल्ला, दरिया, दूलनदास, चरनदास, गुलाल, गरीबदास, पलटू, भीखा और तुलसी साहब इसी सन्त-परम्परा के प्रमुख नाम हैं। साथ ही साथ नानक, अंगद, अमरदास, रामदास अर्जुनदेव आदि सिक्ख-गुरु, जम्भनाथ का बिश्नोई सम्प्रदाय, बाबालाली सम्प्रदाय, साईंदास, जसनाथी सम्प्रदाय, हीरादासी सम्प्रदाय आदि के कविगुण भी इसी

वर्ग में आते हैं। सच तो यह है कि सन्त तथा सन्त-मत न तो कोई सम्प्रदाय विशेष है, न निश्चित दर्शन। यह तो विविध कवियों के सामान्य विचारों से युक्त रचित काव्य की सामूहिक संज्ञा है। निःसन्देह इस प्रकार का काव्य कालान्तर में, उन्नीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ तक रचा जाता रहा है। जहाँ तक प्रश्न है, इसके उदय का तो वास्तव में यह पूर्ववर्ती नाथपंथ का ही विकसित रूप था जिसमें समयानुसार शंकर का अद्वैतवाद, रामानुज का विशिष्टाद्वैत, इस्लाम का एकेश्वरवाद, योगियों का यौगिक साधना एवं सूफियों का प्रेम-पीर आदि को मिलाकर एक सर्वथा नये रंग-रूप में ग्रहण किया गया था।

सन्त-काव्य का वर्गीकरण :- सन्तकाव्य का वर्गीकरण दो आधारों पर किया जा सकता है- (1) शुद्ध दर्शन की दृष्टि से तथा (2) सन्त-कवियों की साधना-प्रणाली की दृष्टि से। प्रथम के प्रमाण हैं-पूर्णतया अद्वैतवादी सन्त कवि (यथा कबीर दादू, मलूकदास) जबकि दूसरे के भेदाभेदवादी गुरूनानक। साधना-प्रणाली से देखें तो एक तरफ सुन्दरदास जैसे पूर्ण योग-साधक हैं तो दूसरी ओर दादू, नानक, रैदास ओर मलूकदासादि आंशिक योगसाधक, जिनके यहाँ योग उल्लेख मात्र ही है।

सन्त-काव्य की प्रवृत्तियाँ (मान्यतायें अथवा विशेषतायें)

(अ) भावपक्ष सम्बन्धी-

निर्गुण की उपासना- सभी सन्त कवि निर्गुण के उपासक हैं। उनका ब्रह्म अविगत् है। उसका न तो कोई रूपाकार है एवं न निश्चित आकृति। वह तो अनुपम, सर्वव्यापक, सर्वशक्तिमान् और सर्वसुलभ है। घट-घट में बसता है तथा ब्राहोन्द्रियों से परे है। स्वयं सन्तकवि कबीर के शब्दों में-

'जाके मुख माथा नहीं, नाहीं रूप कुरूप।
पहुप बास से पातरा, ऐसा तत्त अनूप॥'

इसी निर्गुणोपासना के कारण वे सगुण का विरोध करते हैं तथा तर्कोधार पर उसकी निस्सारता प्रकट करते हैं; यथा-

'लोका तुम ज कहत हौ नन्द कौ, नन्दन नन्द धू काकौ रे।
धरनि अकास दोउ नहिं होते, तब यह नन्द कहाँ धौ रे॥'

समन्वयपरक एकेश्वरवाद की स्थापना- सन्त कवि जीवन के सभी क्षेत्रों में समन्यवादी हैं। निःसन्देह धर्म तथा दर्शन भी इसका अपवाद नहीं है। यही कारण है कि, मुंडे-मुंडे मतिर्भिन्नः' में यकीन न कर ये ईश्वर के एक सामान्य, सहज-सुलभ रूप को ही मानते हैं। कबीर में यह बात और भी अधिक रूप-मात्रा में मिलती है। वे तो सगुण-निर्गुण को भी एक ही मानते हैं-"गुण में निर्गुण, निर्गुण में गुण, बारि छाँडि क्यूं बहिये।"

एकेश्वरवाद मूलतः निर्गुण वैष्णव विचारधारा है। इसके अनुसार ब्रह्म एक ही है, जो लीला में भरकर 'स्व-विस्तार' करता है। माया-बाधा से ही वह भिन्न प्रतीत होता है। यह माया-बाधा अज्ञान की देन है तथा इसको गुरु-ज्ञान से दूर किया जा सकता है। कबीर इसी एकेश्वरवाद की स्थापना करते हैं।

रहस्यवाद- सन्त कवियों ने स्थान-स्थान पर अपनी उक्तियों को रहस्यमय रूप में प्रकट किया है। फलतः उनकी उक्तियाँ अस्पष्ट, अटपटी तथा गूढ़-गहन बन गईं। कबीर की उलटवासियों में ये सभी बातें उपलब्ध हैं। इसके अतिरित रहस्यवाद की अन्य स्थितियाँ और रूप भी इनमें भरपूर मात्रा में मिलते हैं। कहा तो यहाँ तक गया है कि "रहस्यवादी कवियों में कबीर का आसन सबसे ऊँचा है। शुद्ध रहस्यवाद केवल उन्हीं का है।" यहाँ पर दृष्टव्य बात यह भी है कि कबीर की रहस्यवादी

उक्तियाँ केवल शुष्क और बौद्धिक मात्र नहीं हैं वरन् इनमें तो सूफियों के 'प्रेम' तथा वैष्णवों की भक्ति के साथ-साथ काव्यात्मकता भी पूरी-पूरी मात्रा में है। इन गुणों ने नि:सन्देह कबीरीय रहस्यवाद को 'मौलिक' बना दिया है। 'फलत: कबीर का रहस्यदिव भारतीय अद्वैतवाद तथा इस्लामी सूफीवाद की संगमस्थली होने पर भी इनसे वाशिष्ट है।"

उभयपक्षी श्रृंगार- श्रृंगार का मूल भाव है 'रति' (प्रेम) तथा उभय पक्ष है-संयोग एवं वियोग। ध्यान दें तो "प्रेम की व्यंजना का तीव्रतम् रूप पति-पत्नी-सम्बन्ध में ही होता है। कारण पति-पत्नी में अन्तराल नहीं रहता। सन्तों ने इसी कारण अपनी प्रेमासक्ति, राम को पति तथा स्वयं को उनकी पत्नी मानकर, व्यक्त की है।" इन्होंने वैष्णवों तथा सूफियों से उनका दाम्पत्य श्रृंगार ग्रहण किया एवं उसके दोनों पक्षों का विशद् चित्रण किया। यही कारण है कि इनके यहाँ संयोग और वियोग दोनों के बड़े मार्मिक और विविध अवस्थाओं से युक्त चित्र मिलते हैं।

सामाजिक अन्याय का विरोध- मध्यकाल के अधिकतर सन्त कवि समाज के निम्न-वर्ग से संबंधित थे। उन्होंने अपने जीवन में सामाजिक विषमता तथा तद्जनित अन्यायों को देखा, भोगा था। अतएव उनमें इसके प्रति विरोध-भावना होनी स्वाभाविक ही थी। प्रारम्भ में, विशेषत: महाराष्ट्री सन्तों में, विरोध का यह स्वर सरल-सहज था, पर कबीर में आकर तो यह आक्रोशमय एवं कटुतर तक बन गया। नि:सन्देह इसका एक कारण कवि की निर्भीकता एवं अखण्डता भी थी। कबीर ने अपने समकालीन समाज और उसके विविध पक्षों पर कटु-तीखे प्रहार किये हैं। सच तो यह है कि उनकी उन व्यंगोक्तियों ने उनको सुधारक तथा युग-नेता तक बना दिया है। "सच पूछा जाये तो आज तक हिन्दी में ऐसा जबर्दस्त व्यंग्य लेखक पैदा ही नहीं हुआ।"

बाह्याडम्बरों का विरोध- संत कवियों ने अपने युगीन समाज को आँखें खोल कर देखा एवं उसके सच्चे रूप को जनता के सामने जैसे का तैसा रखा भी था। कबीर नि:सन्देह इस दृष्टि से भी अग्रणी कवि हैं। उन्होंने हिन्दू तथा मुसलमान दोनों में प्रचलित धार्मिक-सामाजिक आडम्बरों के ढोल की पोल खोली है। शैव हो या शाक्त, ब्राह्मण हो या मुल्ला, मुंड मुंडाने वाला साधु हो या माला फेरने वाला पण्डित, सभी के पाखण्डी रूप कबीर ने उजागर किये हैं। इसी तरह मूर्ति-पूजा, माला, छापा-तिलक, तीर्थाटन, वेद-शास्त्र, कुरा-पुरान, मक्का-मदीना, रोजा-नमाज, न जाने कितने आडम्बरों का विरोधपरक मजाक उड़ाया है, न जाने कितनी रीति-परम्पराओं का उन्मूलन किया है कबीर ने। सच में तो,...उन्होंने तत्कालीन समाज में प्रचलित समस्त अन्धविश्वासों, रूढ़ियों एवं मिथ्या सिद्धान्तों द्वारा प्रचारित सामाजिक विषमताओं का मूलोच्छेद करने का बीड़ा उठाया और निर्ममतापूर्वक सभी पर प्रहार किया।"

लोक-कल्याण की भावना- ये सन्त कवि मात्र विरोधी नहीं हैं। गहराई में झांकें तो उनके व्यंग्य-विरोध का मूलोद्देश्य लोक-कल्याण करना तथा सच्ची मानवता की प्रतिष्ठा करना है। वे तो सबको 'हरि का बन्दा' मानते हैं एवं जागृति के लिये समझाते हैं। ये कवि लोक-कल्याण भी बाह्याडम्बरों से नहीं, 'मन की पवित्रता' से मानते हैं।

नारी-विरोध- सन्त कवि मूलत: नारी के नहीं बल्कि उसके 'कामिनी' रूप के विरोधी हैं। नि:सन्देह इसका सबसे बड़ा कारण तत्कालीन समाज में नारी के इसी भोग्या रूप की प्रधानता का होना है। कबीरादि ने नारी को प्राय: इसी रूप में ग्रहण किया है, यद्यपि 'सती' को अंग और पतिव्रता निहकरमी को 'अंग' एवं दाम्पत्यमूलक प्रतीकों वाले पदों (गीतों) में उन्होंने नारी की प्रशंसा भी की है। माया को कामिनी रूप प्रदान कर कबीर भी, अन्य सन्तों की भाँति, नारी को त्याज्य बताते हैं। उनके मतानुसार, नारी नरक का द्वार, अवगुणों की जन्मदाता, मोहिनी, ठगिनी, विषैली, भुजंगिनी आदि न जाने क्या-क्या है।

गुरु-महिमा का गान- सन्त-काव्य में गुरु वह शक्ति मानी गयी है, जो साधक-भक्त की अज्ञानता को दूर करके उसको सच्चा ज्ञान प्रदान करती है। सूफियों की भाँति यह गुरु अनुपम, अत्यधिक पूज्य, ब्रह्म-ज्ञान प्रदाता और मायादि विकारों से दूर करने वाला है। इसी से ये कवि गुरु को न केवल इन गुणों से युक्त मानते हैं, बल्कि उसको ब्रह्म के समकक्ष रख उसका आदर भी करते हैं।

(ब) कलापक्ष सम्बन्धी

सरल मिश्रित भाषा- उस काल में भी संस्कृत यद्यपि सारे भारत में व्याप्त थी, पर वह प्राय: विद्वत् वर्ग तक सिमट कर रह गयी थी। दूसरी तरफ, जनसमाज के अधिकाधिक निकट रहने वाला और विशेषकर अपने काव्योपदेशों से उसी को झिंझोरने वाला कवि वर्ग प्रान्तीय या लोकसभाओं की अलख जगा रहा था। काव्य की रीति-नीति तक की उपेक्षा कर देने में इसको आपत्ति नहीं थी। नि:सन्देह इनमें सर्वाधिक अग्रणी रहे थे-सन्त कवि, विशेषत: कबीर। सोचें तो, इन 'मसि कागद छुओ नहीं' वाले सन्त-कवियों के लिए यह स्वाभाविक भी था। उन्मुक्त भाव से रचे गये जन-काव्य के लिए नियमबद्ध-शुद्ध भाषा लाभप्रद नहीं थी और न ही ये कवि (एकमात्र सुन्दरदास को छोड़कर) काव्यशस्त्र-ज्ञाता थे। ये तो निम्न-वर्ग से आये थे, उसी से संबंधित थे। स्वयं का इनका घुमक्कड़पन (देशाटन) और अलग-अलग स्थानों से संबंधित इनका अनुयायी-समुदाय भी इसी प्रवृत्ति को बढ़ाने में सहायक था। समग्रत: इन्होंने 'सुधुक्कड़ी' या 'खिचड़ी' कही जाने वाली, किन्तु एकदम सर्वसुलभ, सर्वसरल भाषा को ही अपनाया और कबीर के शब्दों में, यही माना कि-

"संसकिरत है कूप-जल, भाखा बहता नीर।
जब चाहो तब ही डुबौ, सीतल होय सरीर॥"

से तो सीधी बात सीधे तरीके से कहने के कायल थे तथा उसूलन कथित अथवा सर्वसाधारण के रोजमर्रा की बोलचाल की भाषा में ही अपना सन्देश रखने के पक्षपाती भी थे, यद्यपि इसी के फलस्वरूप ये प्रान्तीयता के भाषा-रंग से भी बच नहीं सके। नानक में पंजाबीपना तथा कबीर में बनारसीपना की भरमार इसी का प्रमाण है। साथ ही, इनकी काव्य-भाषा का एक रूप स्थिर कर पाना भी मुश्किल बन गया है; यथा कबीर की भाषा, जिसको स्वयं कबीर ने 'पूरवी' किन्तु दूसरों ने 'बनारस-मिर्जापुर-गोरखपुर की बोली', भोजपुरी का ही एक रूप, 'राजस्थानी-पंजाबी मिश्रित खड़ी बोली या सधुक्कड़ी', 'संध्या भाषा', 'अवधी तथा ब्रज के समीप' आदि न जाने क्या-क्या कहा एवं माना। समग्रत: मिश्रणप्रधान होने से इसको 'मिश्रित भाषा' ही माना जा सकता है।

प्रतीक योजना- सन्त-काव्य के प्रतीक मुख्यत: बौद्ध तथा नाथ-सम्प्रदायों से या फिर सीधे-सीधे जन-जीवन के लिए गये हैं। मुख्यत: ये चार प्रकार के हैं-(1) पारिभाषिक (यथा गगन गुफा, गगन मंडल, चन्द्र, सूर्य, सरस्वती, गंगा-यमुना, बाधिन, पाताली आदि), (2) संख्यावाचक शब्दों से युक्त (यथा दुई पाठ, त्रिकुटी, तीन गाउ, चार चोर, अष्ट कमल, दशम् द्वारादि), (3) अन्योक्ति परक (यथा चौराहा, बालम, चदरिया, गांव, दुलहिन, भरतार आदि) तथा (4) उलटबाँसी वाले प्रतीक (यथा मछली, मृग, सर्प, कुंआ, खरगोश आदि)। उक्ति-वैचित्र्य तथा भाव-वृद्धि इनकी अपनी विशिष्टताएं हैं।

छन्द तथा अलंकार- सन्त कवि न तो काव्यशास्त्र के अध्येता थे एवं काव्यशास्त्रीय नियमों से बद्ध होकर काव्य-सृजन करना इनका लक्ष्य था। 'काव्यगत' तो इनके यहाँ बाइ-प्रौडक्ट है अर्थात् अपने-आप बन जाने वाला। फलस्वरूप छन्द-अलंकारों के नियमबद्ध रूप या पाँडित्य प्रदर्शन करने वाली चमत्कारिता इन कवियों में नहीं मिलती। फिर भी छन्द-अलंकार दोनों ही इनके मध्य में पर्याप्त मात्रा में मिलते हैं, किन्तु सिर्फ साधन रूप में। साखी (दोहा) और सबद (गीत या पद) इनके प्रिय

छन्द हैं यद्यपि चौपाई, कवित्तादि भी मिल जाते हैं। सुन्दरदास तो 'सवैये के बादशाह' माने गये। जहाँ तक प्रश्न है-अलंकारों का तो मुख्यत: यहाँ रूपक, उपमा, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा, श्लेष तथा अनुप्रासादि बहुप्रचलित अलंकार ही प्रयुक्त हुए हैं।

युगबोध- सन्त-काव्य का मूल दृष्ट है-युग-चेतना को जागृत करके युगबोध का संदेश देना। वास्तव में, 'अपने समय के सजग प्रहरी' ये ही थे। इन्होंने अपने युग को आँख खोलकर देखा ही नहीं उसकी कटुता, विषमताओं, विसंगतियों तथा आडम्बरादि का डटकर, निर्भीकतापूर्वक, विरोध भी किया। साथ ही साथ मानवता-मात्र का सन्देश भी दिया। सच तो यह है कि इनसे अधिक स्पष्टवक्ता, क्रांतिदर्शी, समाज-सुधारक एवं निर्भीक कवि अन्य किसी भी वर्ग सम्प्रदाय में नहीं मिलते। कबीर इसका सर्वोत्तम प्रमाण हैं।

संत काव्यधारा में कबीरदास का स्थान और महत्व

कबीर के काव्य सृजन का उद्देश्य भव्य कविता करना नहीं वरन् अपनी अनुभूतियों का शब्दांकन करना था। वह मूलत: सन्त थे और उन्होंने आध्यात्मिक साधना हेतु ही वाणी का माध्यम ग्रहण किया। उनकी आध्यात्मिक साधना एक और तो अगोचर, अगम्य, परब्रह्म से साक्षात्कार को संकल्पित है व दूसरी और इसी आध्यात्मिक साधना ने अद्वैतवाद के व्यावहारिक रूप से समाज में व्याप्त कदाचार व कुरीतियों को समूल नष्ट करने का निश्चय किया। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी का अभिमत है -'कबीर ने कभी काव्य लिखने की प्रतिज्ञा नहीं की, तथापि उनके आध्यात्मिक रस की नगरी से छलके हुए रस से काव्य की कटोरी में रस इकट्ठा नहीं हुआ था।'

कबीर के काव्य में पौरुष सहज ही झलकता है। ऐसे हिन्दू कवि बिरले हैं, जो अपने संकल्प, अनुभूति के प्रति निष्ठा भाव रखते हों। कबीर हिन्दी काव्य के वह सूत्रधार थे जिन्होंने कविता को आम जिन्दगी का दर्पण बनाया तथा समाज और धर्म को अपने वर्ण्य विषय का केन्द्र बिन्दु चुना।

समीक्षा की दृष्टि से उनके काव्य को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है - साखी, पद व रमैनी जिनका वर्ण्य विषय समाज ही है। युगदृष्टा कबीर के काव्य में वेदान्त, प्रेमसाधना, संसार की नश्वरता, माया की प्रबलता, हृदय की शुचिता, धार्मिक आडम्बरों का विरोध व साम्प्रदायिक एकता का प्रतिपादन रहा है। डा. रामकुमार वर्मा ने उनके काव्य सृजन के मन्तव्य को इस प्रकार उद्घाटित किया है - 'इन ग्रन्थों का वर्ण्य विषय प्राय: एक ही है - वह है ज्ञानोपदेश। कुछ परिवर्तन कर वही विषय प्रत्येक ग्रन्थ में प्रतिपादित किया गया है। विस्तार में उनके वर्ण्य विषय यह हैं - योगाभ्यास, भक्त की दिनचर्या, सत्य वचन, विनय और प्रार्थना, आरती उतारने की रीति, नाम महिमा, सन्तों का वर्णन, सत्यरूप निरूपण, माया विषयक सिद्धान्त, गुरु महिमा, सत्संगति आदि। ये विषय वही हैं जिनके द्वारा घूम फिरकर निर्गुण ईश्वर का निरूपण हो जाता है। अनेक स्थलों पर सिद्धान्त और विचारों में आवर्तन भी हो जाता है।'

बौद्धिकता की प्रधानता – कबीर का काव्य असाधारण है। उनका समूचा जीवन सांसारिक वृत्तियों तथा सामाजिक बुराइयों को दूर करने में गया। उनका काव्य सायुक्त व मौलिकता से परिपूर्ण है। उन्होंने कविता लिखने के लिए मात्र शब्दों का चयन नहीं किया, बल्कि उन शब्दों का चिन्तन व मन्थन किया। तत्पश्चात् उसे अपने काव्य में प्रयुक्त किया। इस प्रकार उनका काव्य भावुकता से परे बुद्धि तत्व की प्रधानता लिए है।

भाव पक्ष – कबीर के साहित्य में रसानुभूति अद्भुत है। उपदेशात्मक सूक्तियां व हठ योग सम्बन्धी कविताओं के अतिरिक्त उनका काव्य पूर्ण रसमिक्त है। उनकी कविता में शान्त, अद्भुत व श्रृंगार रसों की त्रिवेणी मिलती है। अपने मानसिक विकारों से संघर्ष सम्बन्धी काव्य को वह शान्त

रस से आप्लवित करते हैं। उनके काव्य में भावपक्ष भी ज्ञान तत्व की भांति विद्यमान है। आध्यात्मिक विचारों को अपने काव्य का विषय बनाकर उसे सरलता व सहजता से लोकमात्र में प्रस्तुत कर कबीर ने सही अर्थों में काव्य की आत्मा को पहचाना है। उनके काव्य में भक्ति भावों की प्रचुरता है। उन्होंने आत्मा-परमात्मा समान अदृश्य पदार्थों को प्रतीक व उपयुक्त उपमानों के द्वारा सादृश्य के रूप में चित्रित किया है। आत्मा को प्रेयसी व परमात्मा को प्रेमी मानकर वह सरस काव्यवर्षण करते हैं।

कबीर ने संयोग व वियोग का सशक्त चित्रण कर अपनी पटुता का परिचय दिया है। उनके आध्यात्मिक संयोग व वियोग के चित्रों की तुलना में अन्य कवि सफलता के सोपान तक पहुंचने में असमर्थ रहे हैं। इस सन्दर्भ में एक विद्वान समीक्षक का मत प्रासंगिक है - 'कबीर की कविता में तो भावना नृत्य करती है और उसी से रस प्रवाह होता है। कबीर की रहस्यमयी कविताओं में जो रस की धारा बहती है, वह आत्मा की कामना और वासना के क्षेत्र से बाहर निकालकर निर्वाण के परमानन्द की स्थिति को प्राप्त कराने में समर्थ होती है। इस स्थिति को प्राप्त करके कवि स्वयं प्रेम रस का पान करता है और ब्रह्म के रंग में रंगकर मतवाला हो जाता है। कबीर की रचनाओं में इस रस की न जाने कितनी शीतल धाराएं बहती हुई मिलती हैं, जिनमें स्नान करके सहृदय पाठक जीवन की वास्तविक शान्ति को प्राप्त कर संकता है।'

रसानुभूति – रस की दृष्टि से कबीर के काव्य में मुख्यत: तीन रसों यथा श्रृंगार, अद्‌भुत एवं शान्त का समावेश है किन्तु प्रधानता श्रृंगार की है। उनका भक्ति व आध्यात्मिक साहित्य प्रिय और प्रियतम की अटूट कड़ी है जो आत्मा परमात्मा की प्रतीक है। कबीर ने अपने काव्य का सृजन रस सिद्धान्त के अनुसार किया, काव्यशास्त्रीय परम्परा के अनुसार नहीं किया, फिर भी श्रृंगार उनके काव्य में प्रभावी रूप से उभरकर आया है।

(अ) **श्रृंगार रस** - कबीर ने दाम्पत्य प्रेम के माध्यम से ब्रह्म का रहस्यवादी चित्रण किया है। उनके पदों में श्रृंगार के दोनों पक्षों, संयोग व वियोग का वर्णन समान रूप से प्रतिबिम्बित होता है।

(ब) **अद्‌भुत रस** - स्थायी रूप से विस्मय जिन उक्तियों में विद्यमान होता है वे आश्चर्यानुभूति होती हैं। यह उलटबांसियां अधिकांश अद्‌भुत रस से अभिसिक्त हैं। उन्होंने अद्‌भुत रस में अलौकिक व अदृश्य का सजीव वर्णन कर इस रस को प्रचुरता से अपने काव्य में विस्तीर्ण किया है।

(स) **शान्त रस** - भक्ति भावना से प्रेरित कबीर की कविता में शान्त रस का प्राधान्य है। जीवन के विभिन्न आयामों को उजागर कर मानवीय संवेदनाओं की सहज प्रस्तुति में शान्त रस का वर्णन हुआ है। इस रस में उन्होंने, सामाजिक कुरीतियों पर प्रहार, सत्य की अवधारणा का प्रतिपादन, जीवन के विभिन्न पहलुओं पर दृष्टिपात किया है।

अलंकार सौन्दर्य - कबीर के काव्य में अनायास ही बहुलता में अलंकारों का समावेश है। कबीर के काव्य में उपमा, रूपकों की तो प्रचुरता है ही, साथ ही अन्योक्ति, लोकोक्ति, सांगरूपक, दृष्टान्त, उत्प्रेक्षा आदि अलंकार भी दृष्टव्य हैं। यमक, श्लेष, अनुप्रास अलंकारों की भी आवृत्ति उनके काव्य को सौन्दर्य प्रदान करती है।

कबीरदास ने अपने काव्य में अलंकारों का सहज ही प्रयोग किया है। काव्य प्रतिभासम्पन्न होने के उपरान्त भी कबीर के जीवन का लक्ष्य कविता करना नहीं, बल्कि इसके माध्यम से साधना, भक्ति भावना का प्रचार-प्रसार व सामाजिक कूप-मण्डूकता पर प्रहार करना रहा।

प्रतीक विधान - काव्य में सौन्दर्य की दृष्टि से प्रतीक योजना का अपना विशेष महत्व है। प्रतीक का शाब्दिक अर्थ निशान, अंग, पता व अवयव है। प्रतीक के द्वारा जो मूलत: अप्रस्तुत

है, हम प्रस्तुत के द्वारा उसके गुण-धर्म का स्मरण करते हैं। मानव जीवन प्रतीकों से आप्लावित है। कुच प्रतीक सार्वभौमिक होते हैं, जैसे श्वेत रंग पवित्रता का एवं सिंह पौरुष का प्रतीक है।

कबीर की अनुभूतियां आध्यात्मिक रंगों से सराबोर हैं। अपने विचारों को बोधगम्य बनाने के लिए उन्हें अधिक प्रतीकों का आलम्बन करना पड़ा है। प्रतीक शैली वस्तुत: कबीर-काव्य की प्रमुख शैली कही जा सकती है। उनके काव्य में कुछ प्रतीक तो विचित्र हैं जिनका प्रतीकात्मक अर्थ खोजना कठिन है। इन प्रतीकों का आद्यात्मिक अर्थ जाने बिना उनके काव्य को समझना सरल नहीं है। उनके द्वारा प्रस्तुत प्रतीकों के उदाहरण इस प्रकार हैं।

1. **दाम्पत्य प्रतीक -**

दुलहिनी गाबहुं मंगलाचार।

--- --- --- --- ---

लाली मेरे लाल की, जित देखौंतित लाल।
लाली देखनि में चली, मैं भी हो गयी लाल॥

2. **पारिभाषिक प्रतीक -**

गंगतीर मोरी खेती बारी, जमुनातीर खरिहाना।
सातों बिरवी मोरे वीपजैं, पांचू मोर किसाना॥

--- --- --- --- --- ---

आकासे मुख औधों कुवां, पाताले पनिहारि।
ताकां पाणि को हंसा पीवै, बिरला आदि विचारि॥

उलटबांसियां - कबीर के काव्य में उलटबांसी पद्धति उल्लेखनीय है। इनमें लोक-विपरीत बातें कही गई हैं। ऊपरी अर्थ बोध होने पर इन लोक विरुद्ध बातों की प्रस्तुति से श्रोता अथवा पाठक को आश्चर्य होता है। लेकिन इन प्रतीकों के आध्यात्मिक अर्थों का जब उद्‌घाटन होता है तब हमें यह असंगत अथवा विरोधमूलक प्रतीत नहीं होती। कबीर के काव्य में अलंकार प्रधान उलटबांसी, प्रतीक प्रधान उलटबांसी व अद्‌भुत रस प्रधान उलटबांसी के दिग्दर्शन मुख्यत: होते हैं।

छन्द - कबीर ने अपने काव्य में मुख्य रूप से मुक्तकों का ही प्रयोग किया है। उन्होंने छन्दों में दोहा, चौपाई का प्रयोग किया है। साखियां दोहा छन्द में हैं और रमैनी में कुछ चौपाइयों के पश्चात् एक दोहा है। इसी क्रम में रमैनी का सृजन किया है।

भाषा - कबीर की भाषा में राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि भाषाओं का मिश्रण है। उनकी भाषा को साधुक्कड़ी भी कहा जाता है जिसमें बिना व्यतिक्रम के विभिन्न भाषाओं के शब्दों का प्रयोग हुआ है। कबीर की भाषा के सम्बन्ध में डा. सुनीतिकुमार चटर्जी का कथन उल्लेखनीय है -

'कबीर यद्यपि भोजपुरी क्षेत्र के निवासी थे, किन्तु तात्कालीन हिन्दुस्तानी कवियों की तरह उन्होंने ब्रजभाषा तथा कभी-कभी अवधी का भी प्रयोग किया। उनकी ब्रजभाषा में भी कभी-कभी पूर्वी (भोजपुरी) रूप झलक आता है, किन्तु जब वे अपनी भोजपुरी बोली में लिखते हैं जो ब्रजभाषा तथा अन्य भाषाओं के तत्व प्राय: दिखाई पड़ते हैं।

आचार्य श्यामसुन्दरदास का मत है कि 'कबीर की भाषा का निर्णय करना टेढ़ी खीर है क्योंकि वह खिचड़ी है। खड़ी, ब्रज, पंजाबी, राजस्थानी, अरबी, फारसी, आदि अनेक भाषाओं का पुट उनकी उक्तियों पर चढ़ा है।'

विभिन्न विद्वानों की सम्मति से कबीर की भाषा के सम्बन्ध में यह विशेषताएं उभरकर आती हैं -

1. कबीर की बोली का प्रमुख आधार पूर्वी बोली (भोजपुरी व अवधी) है।
2. कबीर की भाषा पर खड़ी एवं ब्रजभाषा का अधिक प्रभाव है।
3. कबीर की भाषा में राजस्थानी एवं पंजाबी भाषा के शब्दों का भी प्रचुरता से प्रयोग हुआ है।
4. कबीर की भाषा साधुक्कड़ी मानी जाती है। जिसे पंचमेल खिचड़ी की संज्ञा दी जाती है। उसे किसी एक भाषा की परिधि में नहीं बांधा जा सकता।
5. उनके द्वारा प्रयुक्त भाषा का रूप अधिकांशत: विषय व भाव के अनुकूल है।

साहित्य में स्थान - कबीर का प्रमुख ध्येय कविता कराना नहीं, वरन् अपनी आत्मानुभूतियों का प्रचार- प्रसार कर मानव को संयमित रास्ते का अनुसरण कराना था। भाषागत दोष होने के उपरांत भी कबीर का हिन्दी साहित्य में उच्च स्थान है। इन्होंने पहली बार कविता को धरातल से जोड़ा व आम-आदमी एवं कविता का परस्पर तादात्म्य स्थापित किया। कबीर का साहित्य वस्तुत: उच्च नैतिक आदर्शों का प्रतिस्थापक है। उनका जीवन और काव्यादर्श समान रहे। वह समरसता व मानवता के पुजारी हैं। हिन्दी साहित्य में कबीर मात्र कवि न होकर एक लोकनायक के रूप में अवतरित हुए हैं जो समाज की सड़ी गली प्रथाओं का समूल नाश करके इस धरा को स्वर्ग बनाने का उद्यम करते हैं। निर्गुण भक्तिधारा के श्रेष्ठ कवि कबीर काव्य में आध्यात्मिक प्रभाव के प्रवर्तक हैं। उनकी वाणी में कला पक्ष का अभाव होते हुए भी भावगत सरलता है। आधुनिक परिप्रेक्ष्य में कबीर हिन्दी जगत का वह व्यक्तित्व है जो समता, विश्वबन्धुत्व व सामाजिक न्याय का अनुयायी है।

निर्गुणधारा के प्रमुख रचनाकार के रूप में रैदास का काव्य

रैदास, कबीर-परंपरा के संत हैं। उनका जन्म भी बनारस में ही हुआ था-कबीर की जन्मभूमि लहरतारा से दक्षिण मडुवाडीह में। एक ही नगर और एक ही विचारधारा के होने के नाते दोनों के मिलने-जुलने की कल्पना की जा सकती है। स्वभाव से दोनों भिन्न थे। कबीर में ओज, अक्खड़ता और प्रखरता थी तो रैदास में शांति, संयम और विनम्रता। कबीर में जुलाहा जैसी निम्न जाति में पैदा होने के कारण कोई ग्रंथि नहीं थी। वे अपने को ब्राह्मण या शेख से छोटा नहीं समझते थे।

किन्तु रैदास में यह ग्रंथि थी। चमार जाति का शोषण और अपमान अनंत काल से होता रहा है। जूता बनाना, मरे जानवरों को ढोना, हलवाही करना उनका पेशा रहा है। अपने ओछे जन्म को स्वीकार करते हुए उन्होंने लिखा है-

जाती ओछा पाती ओछा, ओछा जनमु हमारा।
रामराज की सेवा कीन्ही, कहि रविदास चमारा॥

कबीर की विचारधारा के केन्द्र में हिन्दुओं-मुसलमानों का शोषित-प्रताड़ित वर्ग था तो रैदास के विचार-केन्द्र में चमारों और सवर्ण हिन्दुओं का भेदभाव। इस भेदभाव की तीव्रता का अनुभव करते हुए कभी-कभी उनके धैर्य का बाँध टूट जाता था-

जाके कुटुम्ब सब ढोर ढोवंत
फिरहिं अजहूं बानारसी आसपासा।
आचार सहित बिप्र करहिं डंडउति
तिन तनै रविदास दासानुदासा॥

हजारों वर्षों से दबाई हुई शोषित जाति का कंठ इसी आवेग से फूटता है। रैदास को आचारनिष्ठ विप्रों का दंडवत करना भक्ति-आँदोलन की उस धारा की ओर संकेत करता है जिसके

प्रखर प्रवाह में जाति-पाँति के बाँध एक सीमा तक टूट-फूट गए थे। राजस्थान में रैदास का विशेष प्रभाव था। कहा जाता है कि मेवाड़ की झालारानी इनकी शिष्या थीं। मीराबाई ने भी गुरु-रूप में रैदास का उल्लेख किया है। रैदास के बहुत-से पद 'आदिग्रंथ' में संगृहीत हैं।

निर्गुणधारा के प्रमुख रचनाकार के रूप में गुरु नानक का काव्य

नानक (1469-1538)- नानक का जन्म राइभोई के तलवंडी नामक गाँव में हुआ, जो लाहौर से लगभग 30 मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित है। बाद में इसे नानकाना कहा जाने लगा। इतिहास ने अब इसे पाकिस्तान के हवाले कर दिया है। प्रत्येक वर्ष श्रद्धालु सिक्ख नानकाना की यात्रा पर जाते हैं।

नानक में भगवद्भक्ति के अंकुर लड़कपन में ही फूट गये थे। वे पास के जंगलों में जाकर चिंतन-मनन किया करते थे। एक मोदीखाने में नौकरी भी की। भक्ति में खोये रहने के कारण उन्होंने किसी को अधिक आटा तौल दिया। फलत: नौकरी से निकाल दिये गये। उन्हें माँगी मुराद मिली। वे भ्रमण के लिए निकल पड़े और भजन-कीर्तन से लोगों को प्रभावित करना शुरू किया।

उनकी बानियों का कथ्य मूलत: वही है जो कबीर का है; जैसे-नाम माहात्म्य, गुरुमहिमा, जाति-पाँति का विरोध, ब्रह्म की वैयक्तिक अनुभूति, सत्य, अहिंसा, परोपकार आदि। पर उनके स्वर में गहरी शांति, शीतलता और निर्वैयक्तिकता है। संभवत: अपने इन्हीं गुणों के कारण वे राजनीतिक और धार्मिक अत्याचारों का मुँहतोड़ उत्तर दे सके।

कबीर और रैदास से उनकी वर्गीय स्थिति भिन्न थी। वे न विधर्मी जुलाहे थे और न अछूत चमार। वे खत्री परिवार में पैदा हुए थे। खत्री क्षत्रिय का अपभ्रंश है। बनियों का पेशा अपना लेने के कारण खत्री लोग बनिया कहे जाने लगे। नानक ने महसूस किया कि केवल वाणी द्वारा अभिव्यक्त विचारों से काम चलने वाला नहीं है। अत: उन्होंने एक धार्मिक संगठन खड़ा किया, और अपना उत्तराधिकारी भी नियुक्त किया।

नानक पहले संत हैं जिन्होंने विदेशी आक्रमणकारियों के विरुद्ध आवाज उठाई-

खुरसान खमसान कीआ हिन्दुस्तान डराइआ।
आपै दोस न देई करता जपु करि मुगल चढ़ाइया॥
एती मार पई कुर लाणै तै की दरदु न आइया॥

भगवान को विदेशी आक्रमणकारियों, विशेषत: मुसलमान नवाबों और बादशाहों के अत्याचारों का दर्द महसूस हुआ या नहीं, कोई नहीं जानता, पर नानक को हुआ।

जहाँ स्त्री के सम्मान का प्रश्न है, नानक समूची भक्ति-परम्परा से अलग हैं। शायद ही कोई संत या सगुणोपासक महात्मा रहा हो जिसने स्त्री की निन्दा न की हो पर नानक कहते हैं-

जिन सिर सोहन पटीआ माँगी पाई संधूर।
ते सिर काती मुनीअहि गल बिचि आपै धूड़॥

जिसकी केश-राशि की माँग के बीच सिंदूर सजाया जाता है उसका केश काट दिया जाता है। वे पुन: कहते हैं-

भंड जमी अ भंडि निमीअ भंड मंगण बीआहु।
भंडहु होवै दोसती भंडहु चलै राहु॥
भंड मुआ भंड मालीअ भंड हो वे बंधान।
सो किउ मन्दा आखी अहि जित जंभै राजान॥

जन्म देनेवाली भी नारी, पत्नी के रूप में भी नारी, फिर उसकी अवमानना क्यों? गार्हस्थ्य धर्म और आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भरता का समर्थन अन्य गुरुओं ने भी किया। गुरु नानक की रचनाओं के कुछ और नये आयाम हैं जिनकी ओर ध्यान जाने की आवश्यकता है। 'जपुजी', 'आसदी बार', 'रहिरास' और 'सोहिला'-इनकी रचनाएं हैं जो आदिग्रंथ में भी संगृहीत हैं।

निर्गुणधारा के प्रमुख रचनाकार के रूप में दादू का काव्य

दादू (1554-1603)- कबीर से प्रभावित अनेक संत संप्रदायों का उदय राजस्थान में हुआ। इनमें निरंजनी, साध, जसनामी, लालदासी, दादू आदि संप्रदाय प्रमुख हैं। दादू संप्रदाय में स्वयं दादू की प्रभूत रचनाएं मिलती हैं। इस संप्रदाय के दूसरे प्रसिद्ध संत सुन्दरदास हैं जो संत होने के साथ-साथ पढ़े-लिखे, भाषा तथा पिंगल की बारीकियों के अच्छे जानकार थे।

दादू को उनकी दयालुता के कारण दादूदयाल भी कहा जाता है। उनके जन्मथान तथा जाति के बारे में विद्वानों में मतैक्य नहीं है। सामान्यत: उन्हें अहमदाबाद में पैदा हुआ बताया जाता है। अधिक लोगों का मत है कि वे मुसलमान धुनिया थे। रुई धुनना उनका पैतृक व्यवसाय था। जन्मस्थान गुजरात होते हुए भी कर्मस्थान राजस्थान था। राजस्थान के नारायण गाँव में उनकी मृत्यु हुई थी। वहाँ 'दादूहारा' नामक मरु भी है। अपने जीवनानुभवों के आधार पर उन्होंने 'ब्रह्म सम्प्रदाय' नाम की एक संस्था स्थापित की। आगे चलकर उसी का नाम 'दादू पंथ' हो गया। वे जगह-जगह भ्रमण करते रहते थे। सौभर और आमेर में वर्षों निवास करते रहे। सीकरी में अकबर के साथ इनका चालीस दिनों का सत्संग भी बताया जाता है। मरणोपरान्त उनकी बानियों का संग्रह उनके दो शिष्यों ने 'हरडे वाणी' के नाम से किया। बाद में उसकी त्रुटियों को दूर करके उनके प्रसिद्ध शिष्य रज्जब ने 'अंगबधू' नाम से एक दूसरा संग्रह किया। अब तो उनकी बानियों का सुसंपादित संस्करण प्रकाशित हो चुका है।

दादू-पंथ को कबीर-पंथ की राजस्थानी शाखा कहा जा सकता है। हाँ, दादू की बानियों पर दादू की विनम्रता और सहजता की छाप सर्वत्र देखी जा सकती है जो उनकी रचना को स्वतंत्र व्यक्तित्व देती है। अपने मत के सम्बन्ध में वे लिखते हैं-

भाई रे ऐसा पंथ हमारा।
है पब रहित पंथ गहि पूरा, अवरण एक अधारा॥
वाद विवाद काहू सों नाँहीं, माँहि जगत थैं न्यारा।
समदृष्टि सुझाई सहज में, आपहि आप विचारा॥
मैं तैं मेरी यह मति नाहीं, निर्वैरी निरकारा।
पूरण सबै देखि आपा परि, निरालंब निर्धारा॥

निर्गुणधारा के प्रमुख रचनाकार के रूप में जायसी का काव्य

मलिक मुहम्मद जायसी (1464-1542)- जायसी का पूरा नाम मलिक मुहम्मद जायसी है। सच पूछिए तो इस काल के लोकप्रिय श्रेष्ठ कवि चार ही हैं-कबीर, जायसी, सूर और तुलसी। इनमें से प्रत्येक अलग-अलग काव्यधारा का प्रतिनिधित्व करते हैं। अत: जायसी का मूल्यांकन इनकी समकक्षता में होना चाहिए।

उनके जन्मस्थान और जन्मतिथि के बारे में मतभेद हैं, पर जायस में उनके निवास का पता उनकी रचना से ही लगता है-

जायस नगर धरम अस्थानू। तहाँ आइ कबि कीन्ह बखानू॥
जायस नगर मोर अस्थानू। नगरक नाँव आदि उदियानू॥

तहाँ दिवस दस पहुने आएऊं। भा बैराग बहुत सुख पाएऊं॥

वे जायस में कहीं बाहर से आये थे-पाहुन के रूप में। किन्तु विरागी होकर वहीं बस गये। 'पाहुने' से प्रतीत होता है कि जायस में उनकी ससुराल थी। विराग की तह में पैठने की कोशिश करते हुए विजयदेव नारायण साही ने उनकी एक अर्धाली का सहारा लिया है-'सुख भा सोच एक दुख मानौं। ओहि बिनु जिवन मरन कै जानौं।' इसमें सामान्यत: आलोचक परमतôव को संकेतित देखते हैं। किन्तु साही ने आधुनिक अर्थ निकाला है कि जायसी की आँखें किसी से लड़ गयी थीं। आँख लड़े बिना कोई बड़ा कवि क्या, छोटा कवि भी नहीं हो सकता। गनीमत यह हुई कि एक आँख बच गयी।

जायसी ने स्वयं अपने को एक आँख का काना कहा है। उनके एक कान से सुनाई नहीं पड़ता था-

मुहम्मद बाई दिसि तजी एक सरवन एक आँखि।
एक नैन कबि मुहमदी गुनी। सोइ विमोहा जेइ कबि सुनी॥

संभव है, वे कभी वामपंथी साधना के चक्कर में फँसे हों और उनकी बाईं आँख और कान बेकार हो गये हों। उनके अनाकर्षक चेहरे को देखकर लोग हँसते थे, किन्तु कविता सुनकर रोते थे-

जेइ मुख देखा तेइ हँसा सुनि तेहि आयउ आँसु

उनके काव्य पर लोग मुग्ध थे। पर इसके लिए उन्होंने गर्वोक्ति न करके विनम्रता ही प्रकट की है-'हौं सब कबिन्ह केर पिछलगा, किछु कहि चला तबल देइ डगा।' फिर भी वे जो कहते हैं, डंके की चोट कहते हैं। पर लगता है, कुरूपता का दर्द उन्हें बराबर सालता रहा-

एक नैन जस दरपन औ तेहि निरमल भाउ।
सब रूपवंत पाँव गहि मुख जोवहिं कइ चाउ॥

सभी रूपवंत उत्सुकतापूर्वक उनसे कुछ सुनने के लिए उत्सुक रहते हैं। रूपवंत का उल्लेख कवि के अपने क्षोभ का द्योतक है। अपनी कुरूपता की क्षतिपूर्ति उन्होंने अपने प्रभावशाली काव्य द्वारा की। कहते हैं कि शेरशाह इनका रूप देखकर हँस पड़ा था। इसके उत्तर में उन्होंने इतना ही कहा था-'मोहिंका हँसेसि कि कोहरहि।' मुझ पर हँसते हो कि मुझे बनाने वाले कुम्हार पर? ऐसा तीखा जवाब वही दे सकता है जो शरीर से क्षतिग्रस्त हो लेकिन गुणों से भरपूर। एक ओर विनम्रता, दूसरी ओर गर्व-दीप्ति। यह विरोधाभास क्षतिपूर्ति का प्रयास ही है। अपनी कविता के प्रति वे कितने सचेत रहे होंगे, इसका अनुमान लगाया जा सकता है।

विजयदेव नारायण साही ने अपनी पुस्तक 'जायसी' में यह सिद्ध करने का प्रयास किया है कि जायसी सूफी नहीं थे। अपने पक्ष के समर्थन में उन्होंने 'आइन-ए-अकबरी' और बदायूँनी के 'मुन्तखाबुल-तवारीख' आदि का हवाला दिया है। चन्द्रबली पांडेय की शब्दावली तो उन्होंने नहीं ली है पर उनका मत पांडेजी के मत से मिलता-जुलता है कि सूफी प्रच्छन्न रूप से इसलाम के प्रचारक थे। कुछ सूफी ऐसे रहे होंगे पर सभी सूफियों को एक ही बटखरे से तौलना एक तरह का पूर्वाग्रह है। वास्तविकता यह है कि वे जायसी को पूरे भक्ति-चक्र से बाहर निकालकर शुद्ध कवि के रूप में प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। इससे दुहरे उद्देश्यों की सिद्धि होती है-शुक्लजी के मत का खंडन भी हो जाता है और शुद्ध कविता की खोज भी।

उन्होंने पद्मावत में अपने प्यारे पीर, गुरु और पंथ की स्पष्ट चर्चा की है-

सैयद असरफ पीर पियारा। जेइ मोहि पंथ दीन्ह उजियारा॥
पा-पाएउं गुरु मोहिदी पीठा। मिला पंथ सो दरसन दीठा॥

अखरावट में लिखते हैं-

कही सरीअत चिस्ती पीरू। उघरी असरफ औ जहँगीरू॥

अशरफ और गुरु मोहिदी सूफियों की चिश्ती-परंपरा के फकीर थे। जिस पंथ की वे बार-बार चर्चा करते हैं, क्या वह सूफी-पंथ के अलावा और कोई पंथ था?

संसार में ईश्वर तक पहुँचने के लिए उतने ही पंथ हैं जितने आकाश में नक्षत्र। लेकिन उनकी श्रद्धा मुहम्मदी पंथ पर है-

तिन मँह पंथ कहौं भल गाई। जेहि दूनौ जग छाज बड़ाई॥
से बड़ पंथ मुहम्मद केरा। है निरमल कैलास बसेरा॥

शुक्लजी ने इस पर बड़ी ही सटीक टिप्पणी की है-"जायसी बड़े भावुक भगवद्भक्त थे और अपने समय में बड़े ही सिद्ध और पहुँचे हुए फकीर माने जाते थे, पर कबीरदास के समान अपना एक निराला पंथ निकालने का हौसला उन्होंने कभी न किया। जिस मिल्लत या समाज में उनका जन्म हुआ, उसके प्रति अपने विशेष कर्त्तव्यों के पालन के साथ-साथ वे सामान्य मनुष्य-धर्म के सच्चे अनुयायी थे।"

विभिन्न विद्वानों और शोधार्थियों की खोजों के आधार पर जायसी के चौबीस ग्रंथों का उल्लेख किया जाता है। शुक्लजी की 'जायसी ग्रंथावली' में तीन ग्रंथ ही सम्मिलित किए गए हैं-पद्मावत, अखरावट और आखिरी कलाम। अब कुछ दूसरे ग्रंथों-चित्ररेखा, मसलानामा-का प्रकाशन भी हो गया है, पर जायसी की कीर्ति का आधार ग्रंथ पद्मावत ही है। भला हो शुक्लजी का जिन्होंने इस उपेक्षित किन्तु अत्यंत महत्त्वपूर्ण ग्रंथ का वैसे ही उद्धार किया जैसे वाराह ने रत्नगर्भा पृथ्वी का।

पद्मावत

'पद्मावत' जायसी का ही श्रेष्ठ ग्रंथ नहीं है बल्कि समूची हिन्दी काव्य-परंपरा का एक दुर्लभ रत्न है। इसकी रचना 947 हि. (1540 ई.) में हुई थी-

सन् नव सौ सैंतालिस अहा, कथा अरंभ बैन कबि कहा।

कुछ प्रतियों में नकलनवीसों के प्रमाद से 'नव सौं सैंतालिस' का 'नव सौ सत्ताइस' हो गया है। अपने शाहेवक्त की प्रशंसा करते हुए जायसी लिखते हैं-

सेरसाहि दिल्ली सुलतानू। चारिउ खंड तपै जस भानू॥

शेरशाह के शासन का आरंभ 1540 से ही होता है।

गाथा-कथा- सिंहल नरेश गन्धर्वसेन की कन्या पद्मावती रूप-गुण में अद्वितीय थी। उसके पास हीरामन नाम का एक पालतू सुग्गा था जो अत्यन्त प्रगल्भ था। एक दिन पद्मावती से वह उसके योग्य वर के विषय में चर्चा कर रहा था कि गन्धर्वसेन ने सुन लिया, डर के मारे सुग्गा उड़ गया और उसे एक बहेलिए ने पकड़ लिया। उसने सुग्गे को एक ब्राह्मण के हाथ बेच दिया। ब्राह्मण सुग्गे को लेकर क्या करता! चित्तौड़ नरेश रत्नसेन ने ब्राह्मण को एक लाख देकर उसे खरीद लिया। एक दिन रत्नसेन की रानी नागमती ने सुग्गे से पूछा कि मेरे समान संसार में कोई सुन्दरी और भी है? सुग्गे ने पद्मावती का वर्णन करते हुए बताया कि तुममें और पद्मावती में रात-दिन का अन्तर है। नागमती सुग्गे को मरवाने पर तुली बैठी थी लेकिन संयोग से सुग्गा बच गया। रत्नसेन के बाहर से लौटने पर उसे सारी कहानी मालूम हुई। सुग्गे से पद्मावती का सौन्दर्य-वर्णन सुनकर वह सिंहल की ओर चल पड़ा। आगे-आगे राजा, पीछे-पीछे उसके साथ सोलह हजार योगी वेश में राजकुमार। सिंहल पहुँचने में राजा को अनेकानेक कठिनाइयाँ झेलनी पड़ीं। गन्धर्वसेन से युद्ध हुआ, किन्तु शिव-पार्वती तथा अन्य देवताओं की सहायता से रत्नसेन का पद्मावती से विवाह हो गया। एक पक्षी से नागमती का वियोग-संदेश पाकर वह चित्तौड़ लौट आया। लौटते समय भी उसे बहुत से खतरे उठाने पड़े। नागमती और पद्मावती एक साथ चित्तौड़ में रहने लगीं।

रत्नसेन के दरबार में राघव चेतन नामक एक पंडित था। उसे यक्षिणी सिद्ध थी। उसके अवैदिक आचरण पर कुद्ध होकर राजा ने उसे देश निकाला दे दिया। राघव चेतन प्रतिशोध की भावना से दिल्ली चला गया। उसने अलाउद्दीन से पद्मावती के सौन्दर्य का वर्णन किया। अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई कर दी और छल से रत्नसेन को बन्दी बनाकर दिल्ली ले आया। नागमती के अनुरोध पर गोरा बादल सोलह हजार पालकियाँ लेकर दिल्ली गये। इन पालकियों में सशस्त्र सैनिक छिपे हुए थे। दिल्ली पहुँचकर उन्होंने कहला भेजा कि अपनी सोलह हजार दासियों के साथ पद्मावती अलाउद्दीन के महल में रहने को तैयार है पर महल में जाने से पहले वह रत्नसेन से मिलना चाहेगी। पालकी में छिपे लोहारों ने राजा की बेड़ी काट दी। एक छोटा-सा युद्ध हुआ और रत्नसेन सकुशल चित्तौड़ लौट आया। चित्तौड़ लौटने पर उसे मालूम हुआ कि पद्मावती को फुसलाने के लिए कुंभलनेर के राजा ने एक दूती भेजी थी। फिर क्या था, वह कुंभलनेर पर चढ़ दौड़ा। कुंभलनेर के राजा देवपाल और रत्नसेन दोनों ही युद्ध में मारे गये। रत्नसेन के शव के साथ दोनों रानियाँ सती हो गईं। उधर अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर पुनः चढ़ाई की पर किले में प्रवेश करने पर उसके हाथ सिर्फ राख लगी।

इस कहानी की स्वयं जायसी ने केवल चार पंक्तियों में अत्यन्त कुशलता के साथ रख दिया है-

सिंहलदीप पदमिनी रानी। रतनसेन चितउर गढ़ आनी॥
अलाउद्दीन देहली सुलतानू। राघौ चेतन कीन्ह बखानू॥
सुना साहि गढ़ छेंका आई। हिन्दू तुरकन भई लड़ाई॥
आदि अंत जस गाथा अहै। लिखि भाषा चौपाई कहै॥

इतिहास और कल्पना- पद्मावत की कथा दो भागों में विभक्त है। पहले भाग को काल्पनिक और दूसरे भाग को ऐतिहासिक कहा जाता है। पहले भाग में रत्नसेन के सिंहल जाने और पद्मावती का वरण करने के बाद चित्तौड़ लौटने की कथा वर्णित है। दूसरे भाग में राघव चेतन के निकाले जाने, अलाउद्दीन के आक्रमण करने तथा पद्मावती के सती होने की कथा है। ऐतिहासिक तथ्य इतना ही है कि अलाउद्दीन ने चित्तौड़ पर चढ़ाई की थी जिसमें रत्नसेन मारा गया। खिलजीवंश के प्रामाणिक इतिहासों में अमीर खुसरो का 'तारीख-ए-अलाई' का नाम लिया जाता है, पर इसमें पद्मिनी का उल्लेख नहीं है। खुसरो अलाउद्दीन के साथ लड़ाई में चित्तौड़ गया था। जिजाउद्दीन बर्नी उस काल का प्रसिद्ध इतिहास लेखक है। उसने भी पद्मावती का उल्लेख नहीं किया है। गौरीशंकर हीराचंद ओझा भी पद्मिनी की कथा को कल्पना प्रसूत मानते हैं। जायसी ने इस कथा को लोक से ग्रहण किया था। यह काव्य का अपना कमाल है कि काल्पनिक सत्य ऐतिहासिक सत्य हो गया।

प्रबन्ध की संरचना- 'पद्मावत' की प्रबन्ध संरचना अन्य प्रेमाख्यानक काव्यों से अनेक अर्थों में भिन्न है। दूसरे प्रेमाख्यानों में सामान्यतः प्रेमी-प्रेमिका के मिलन के बाद आख्यान समाप्त हो जाते हैं किन्तु 'पद्मावत' की वास्तविक शुरुआत यहीं से होती है। इसका समापन एक प्रकार की त्रासदी और रचनात्मक मृत्युबोध से होता है। 'भावराग', जिसका उल्लेख किया जा चुका है, इसकी टेक है। प्रत्येक अध्याय में इसका स्पन्दन महसूस होता है।

शास्त्रीय शब्दावली में पद्मिनी-रत्नसेन की कथा आधिकारिक है तो अलाउद्दीन-राघव चेतन का षड्यंत्र प्रासंगिक। इनके अतिरिक्त अन्य प्रसंग भी हैं, हीरामन तोता-वृत्तान्त, गोरा-बादल प्रकरण आदि। पर इस प्रकार का वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं कहा जा सकता। सभी कथाएं और वर्णनाएं पूर्णतः मिश्रित होकर कथानक को एक स्थापत्य देती हैं-अविभाज्य और अविभक्त। पर फल-फूलों की नामावली, दावत की लंबी फेहरिस्त सोलह-श्रृंगार, बारह आभरण आदि स्थापत्य में अलंकरण का कार्य करते हैं। अलंकरण कुछ ज्यादा हो गया है।

हर स्थापत्य एक कालविशेष का होता है, जैसे-बौद्ध, गांधार आदि। एक ही काल में वैचारिक विभिन्नता के कारण शैली के एक होते हुए भी विभिन्न स्थापत्यों की निर्मितियों में भेद हो जाता है। दोहा-चौपाई के कड़वक 'पद्मावत' में भी हैं, रामचरित मानस में भी। पर दोनों की आन्तरिक लय

में अन्तर है। अत: विचारधारा से एकदम काटकर पद्मावत के सौन्दर्यशास्त्रीय पक्ष को नही समझा जा सकता। रचना अपने ऐतिहासिक यथार्थ के प्रति उतनी ही सचेत रहती है जितना सौन्दर्य पक्ष के प्रति। साही ने अपनी विचारोत्तेजक पुस्तक में इस यथार्थ को काटकर वह देखना चाहा है जो पाठ में नहीं है। शुक्लजी ने विचारधारा सम्बन्धी उनके सर्वोत्तम उदाहरण एक स्थान पर एकत्र कर दिए हैं।

पद्मावत की कथा मोटे तौर पर दो भागों में विभक्त है-सिंहल कथा और चित्तौड़-दिल्ली कथा। पहली कथा को अनेक प्रकार के पौराणिक करिश्मों, अतिप्राकृत तत्त्वों, यौगिक क्रियाओं, कथानक-रूढ़ियों से इस तरह बुना गया है कि उसकी सारी बुनावट फांसी लगती है। बौद्ध साहित्य में 'सिंहल' को एक अति मानवी दुनिया के रूप में प्रस्तुत किया गया है। यहाँ सब कुछ अभूतपूर्व है, चाहे वह अमराई हो, पुष्पोद्यान हो, मानसर हो, मंदिर या गढ़ हो। दिल्ली-चित्तौड़ की कथा में कुछ भी अलौकिकता नहीं है। जो कुछ है इस दुनिया का है, यथार्थ है। सिंहल के स्वप्नलोक से उतरकर हम आँखें खोलते हैं तो देखते हैं कि यहाँ सौतिया डाह है, हिन्दू-तुर्क का युद्ध है, हिन्दू-हिन्दू की लड़ाई है, अहंकार है, अभिचार है, छल, कपट, प्रतिशोध, प्रपंच है और है मृत्यु। तत: किम्।

उस समय के सारे मत-मतांतरों को जायसी ने सिंहल में बैठा दिया है और उसका प्रेमपंथ भी वहीं है। अति मानसी दुनिया दिल्ली-चित्तौड़-प्रसंग में गायब है। सिंहल-कथा में तत्त्ववाद का गहरा रंग है। किन्तु दिल्ली-चित्तौड़ कथा में उसे बहुत हल्का कर दिया गया है। फाँसी और यथार्थ में अन्तर होता है। सारे मत-मतांतर फाँसी हैं, मानवीय यथार्थ से कटे हुए। यदि जायसी का उद्देश्य केवल सूफीवाद को स्थापित करना होता तो पद्मिनी को पा लेने के बाद दोनों सूफी हो जाते। सिंहल कथा में सूफीवाद की जो झलक दिखाई पड़ती है उस पर उल्लास की नहीं, अवसाद की छाया है। अत: चित्ताड़ कथा में सारे मत अस्वीकृत हो जाते हैं-उसका अपना मत भी। लेकिन अंत तक प्रेम को नहीं भूलते क्योंकि ईश्वरी सत्य से ज्यादा यह मानवीय सत्य है। इस सत्य के सामने सारे धार्मिक मत, मठ-मंदिर-मसजिद, सौन्दर्य झूठे हैं।

जायसी में मृत्युबोध की त्रासद अन्तर्दृष्टि है। पद्मावत का प्रतिपाद्य पद्मिनी का सती होना नहीं है। वह मृत्युबोध तक ले जाने का मार्ग है। सिंहल की फाँसी और चित्ताड़-दिल्ली युद्ध, जिसे हिन्दू-तुर्क युद्ध भी कहा गया है, वहीं पहुँचता है। पद्मावत का 'कार्य' इस कथन में है-

छार उठाय लीन्ह एक मूँठी। दीन्ह उड़ाइ पिरिथिमी झूठी॥

सिंहल भी इसी पृथ्वी पर है, दिल्ली-चित्तौड़ भी। पर सब झूठा है। सिंहल का वैभव, दिल्ली-चित्तौड़ संघर्ष सबकी एक ही परिणति-मृत्यु। पर यह मृत्युबोध एक ओर भौतिक है तो दूसरी ओर आध्यात्मिक। इस अंतिम सत्य के सम्बन्ध में संतों और भक्तों ने भी लिखा है। पर उनका मृत्युबोध उपदेशमूलक और निवृत्यात्मक है-चाहे वह कबीर का हो चाहे तुलसी का। उनके बोध के पीछे जीवन का दबाव नहीं है। सभी भक्त मौत के उस पार देखना चाहते हैं। किन्तु जायसी उसे इसी पार देखते हैं-'मानुस प्रेम भयहु बैकुंठी, नाहित काह छार भइ मँठी।'

एक मुट्ठी राख का उल्लेख यहाँ भी है। मनुष्य का प्रेम ही स्वर्गीय तत्त्व है। वह ईश्वर के प्रति प्रेम पर जोर नहीं देता, उसे वह 'बैकुंठी' भी नहीं कहता। बैकुंठी प्रेम तो मनुष्य का मनुष्य के प्रति प्रेम है। सिंहलदीप का प्रेम मानवीय धरातल पर नहीं है। या तो वह सौन्दर्य के धरातल पर है या तòववाद के धरातल पर। जायसी इनके आगे जाना चाहते हैं जो उस समय के इतिहास की माँग थी, हिन्दुओं-तुर्कों के बीच प्रेम की स्थापना की माँग थी। वह भी धर्म के धरातल पर नहीं, मनुष्य के धरातल पर। स्मरण रखना चाहिए धर्म से परे मानवीय समता और प्रेम की सैद्धान्तिक स्थापना कबीर कर चुके थे। उसे राग के धरातल पर प्रतिष्ठित होना बाकी था। इसे जायसी ने पूरा किया।

मृत्यु के पार जाने के लिए मृत्यु का बोध आवश्यक है। मृत्यु के पार जीवन है। किन्तु इस जीवन का बोध तब तक संभव नहीं है, जब तक मृत्यु का बोध न हो। 'भा बिराग' की टेकवाले कवि को यह बोध होना ही चाहिए था। जायसी का प्रेम मृत्युंजय प्रेम है। मृत्यु पर विजय तो योग द्वारा भी पाई जा सकती है, रसायन विद्या द्वारा भी और तप द्वारा भी। पर यह विजय वैयक्तिक है। जायसी का प्रेम व्यक्ति का नहीं, पूरी मनुष्य जाति का है। किन्तु इस मार्ग की अपनी कठिनाइयाँ हैं। इसके लिए राग में विराग और विराग में राग का होना आवश्यक है। जायसी इसके जीवंत उदाहरण हैं। वे व्यक्तिगत साधना वाले बैरागी नहीं हैं। वे समाज में प्रेम की आग जगाना चाहते हैं।

'पद्मावत' की संरचना में जो कालबोध है वह जीवन-बोध के समानान्तर चलता है। रचना के आरम्भ में विस्तार है, चंचलता है, मध्य में ठहराव है। अंत में ठहराव का बाँध टूटता है और सारा जीवन तेजी के साथ बह जाता है। अंतिम खंड को समाप्त करने की त्वरा मृत्यु की त्वरा है क्योंकि यहीं पर सब कुछ समाप्त हो जाता है। वृद्धावस्था में लिखा गया 'पद्मावत' उनके अपने मृत्युबोध से मिलकर एक सीमा तक आत्मचरितात्मक भी हो जाता है। इस बोध-वर्णन में जो सान्द्रता आयी है उसका एक कारण उनकी वृद्धावस्था भी है। इस कालबोध को वे रहंट के प्रसंग में रेखांकित करते हैं-

मुहमद जीवन जल भरन रहँट घरी के रीति।
घरी सो आई ज्यों भरी ढरी जनम गा बीति॥

मृत्यु के पार जाने का एक मार्ग और है रचनात्मकता (क्रिएटिविटी)। जायसी ने योग की साधना की थी या नहीं, कौन जानता है? संभवत: नहीं की थी। पर उसने प्रेम की पीर उत्पन्न करने वाला काव्य अवश्य लिखा-'सुना सो पीर प्रेम कर पावा।' उसकी हार्दिक आकांक्षा थी-'औ मैं जानि गीत अस कीन्हा, मकु यह रहै जगत मँह चीन्हा।' मृत्यु के पार जाने की यह आकांक्षा उसकी रचना-प्रक्रिया की केन्द्रवर्ती प्रेरणा है।

उन्होंने स्वयं प्रश्न खड़े किए हैं। अब वह रतनसेन राजा कहाँ है? हीरामन जैसा प्रगल्भ और पंडित सुग्गा कहाँ है? अलाउद्दीन सुलतान कहाँ है? और कहाँ है रूपवती रानी पद्मिनी? रतनसेन के पहले 'सो', अलाउद्दीन के पीछे 'सुलतानू', हीरामन के साथ 'बुधि उपराजा' और पद्मिनी के साथ 'सुरूप' विशेषण लगा हुआ है। इन विशेषणों से पात्रों के अपने संश्लिष्ट चरित्र उभर आते हैं। इनके साथ पाठक के चित्रपट पर पद्मावत का पूरा दृश्यालेख अंकित हो उठता है। किन्तु अपनी चरम परिणति पर 'कोइ न रहा जग रही कहानी।'

कोई न रहे। पद्मावत है और रहेगा। जायसी ने कहा है-'फूल मरै पै मरै न बासू।' जायसी मृत्युंजय बन गये।

भाव-संपदा- जीवन के विरुद्ध मृत्यु और मृत्यु के विरुद्ध जीवन के संघर्ष का नाम है 'पद्मावत'। जीवन प्रेम है। अनेक परिस्थितियों में उसे अनेक रूप-रंगों में देखा जा सकता है-सौन्दर्य में, संयोग में, वियोग में, सामाजिक दायित्व में और मृत्यु में भी। यह प्रेम धर्म, जाति, मठ, मजार के परे है। किन्तु है वह इस लोक में, पारम्परिक प्रतिबंधों में, जातीय संस्कारों में, घरेलू जीवन में। जायसी इन्हीं के भीतर चलते हैं। वे बाहर से भीतर आते हैं और फिर भीतर से बाहर। इस आवाजाही से बाहर-भीतर का भेद मिट जाता है।

कोई यह कहे कि 'पद्मावत' का कथा-चक्र पद्मिनी के सौन्दर्य की धुरी पर घूमता है तो कह सकता है। जायसी ने पद्मिनी की शोभा, नखशिख वर्णन, अंग-प्रत्यंग की सुषमा को प्रभावशाली ढंग से चित्रित किया है। शुक्लजी के शब्दों में-'जिस प्रकार कमल, चन्द्र, हंस आदि अनेक पदार्थों से सौन्दर्य लेकर तिलोत्तमा का रूप संघटित हुआ था उसी प्रकार कवि ने मानो पद्मावती का रूप विधान किया है। पद्मावती का सौन्दर्य अपरिमेय है, अलौकिक व दिव्य है।'

उनके सौन्दर्य विधान में जिन उपकरणों का प्रयोग किया गया है वे पारम्परिक हैं, पर विन्यास में अद्‌भुत मिठास है। समग्रतः उसमें एक ऐसी व्याप्ति, ज्योतिर्मयता और तरंगायितता है कि वह पारस रूप हो जाती है। मानसर के पास पहुँचने पर कवि को महसूस होता है-'पारस रूप यहाँ लगि आई।' अलाउद्दीन ने उसे देखा नहीं कि-

'होतहि दरस परस भा लोना।
धरती सरग भयउ सब सोना॥'

मानसर और पारस-रूप सौन्दर्य का संपर्क इतना पावन और शांतिदायक होता है कि स्वयं मानसर को रूपवान बना देता है। मानसर व्यक्ति का मन है। किसी भी सौन्दर्य के निकट आने पर वह बड़ा, ज्योतिर्मय और गहरी अनुभूति से पूर्ण हो उठता है। सौन्दर्य के प्रति जायसी का दृष्टिकोण कितना निर्मल और कितना सौन्दर्यशास्त्रीय है! अलाउद्दीन पर भी उसका पहला प्रभाव ऐसा ही पड़ता है, धरती और आकाश स्वर्णमय हो उठते हैं।

उसके सौन्दर्य का एक विराट चित्र है-

सरवर तीर पद्‌मिनी आई। खोंपा छोरि केस मुकलाई॥
ससि मुख, अंग मलयगिरि बासा। नागिन झाँप लीन्ह चहुँ पासा॥

रूप और गंध का कितना अद्‌भुत सामंजस्य है! मलय गंध से केशरूपी नागिन का उसे ढँक लेना स्वाभाविक है। अपने सौन्दर्य का एहसास उसे स्वयं है-

जासौं हौं चख हेरौं सोइ ठाउं जिउ देइ।
एहि दुख कबहु न निसरौं को हत्या अस लेइ॥

जिसे मैं निहार लेती हूँ वह उसी ठौर प्राण दे देता है। इस दुःख से मैं घर के बाहर कभी नहीं निकलती। कौन नाहक इस तरह की हत्या ले? उसका नखशिख वर्णन दो स्थानों पर हुआ है। उनमें बेहद पुनरावृत्तियाँ मिलेंगी। जो उबाऊ हो गई हैं।

संयोग-वियोग- प्रेम-मार्ग में संयोग-वियोग दोनों के लिए स्थान है। प्रेमाख्यानकों में प्रेम वियोग से संयोग की ओर यात्रा करता है। पर पद्‌मावत में दोनों एक साथ चलते हैं। वास्तविकता तो यह है कि विरह की आँच में पककर ही संयोग खरा उतरता है। पद्‌मिनी के प्रति रतनसेन का प्रेम सूफियों का साधनात्मक प्रेम है। यदि इसे हटा दिया जाये तो रतनसेन और अलाउद्दीन का प्रेम एक जैसा है। क्या अविवाहिता के प्रति प्रेम, क्या विवाहिता के प्रति प्रेम! प्रेम प्रेम है जो इस तरह के नैतिक बंधन को स्वीकार नहीं करता। पर पद्‌मावती के प्रति रतनसेन का प्रेम साधनात्मक प्रेम है और नागमती का रत्नसेन के प्रति प्रेम गार्हस्थिक। इस तरह वे ईरानी मसनवी परंपरा को भारतीय परंपरा से मिला देते हैं। संयोग के बाद फिर वियोग-चिर वियोग। पर संयोग-वर्णन के लिए रत्नसेन-पद्‌मावती प्रसंग में ही अवकाश मिल पाता है। यों संयोग-वर्णन में जायसी का मन कम ही रम पाता है। किन्तु कुछ प्रसंग बहुत ही सुन्दर बन पड़े हैं, जैसे-

साजन लेइ पठावा आयसु जाइ न मेट।
तन मन जोबन साजि कै देह चली लेई भेंट॥

तन को वस्त्राभरणों से अलंकृत किया जा सकता है और किया जाता है। यौवन को साज-सज्जा से और आकर्षक बनाया जा सकता है। पर यह मन का साजना क्या है? कैसे साजा जाता है मन को? सच तो यह है कि प्रिय से मिलने के लिए सबसे पहले मन तैयार होता है। अन्यथा भर्तृहरि के शब्दा में 'अन्यचित्रकृते कामे शवोरिव संगमः।' 'देव' ने मन के सजने का एक अनुभाव-जन्य मोहक चित्र खींचा है-

यों सुनि ओछे उरोजन पै अनुराग के अंकुर से उठि आये।

नागमती का वियोग-वर्णन हिन्दी साहित्य में एक महत्त्वपूर्ण संयोग है। इसके लिए उसने दो प्रयुक्तियाँ अपनायी हैं-नागमती और पक्षियों का संवाद तथा बारहमासा। ये दोनों प्रयुक्तियाँ पारम्परिक हैं। पर जायसी ने इनमें जनपदीय रस उड़ेल दिया है।

वियोगावस्था में पशुओं, पक्षियों और लता-द्रुमों से अपनी प्रिया के सम्बन्ध में पूछताछ करने की परम्परा अपने देश में बहुत पुरानी है। सीताहरण के बाद वाल्मीकि के राम कदम्ब और विल्व से सीता का पता पूछते हैं। कालिदास का यक्ष तो एक कदम आगे बढ़कर मेघ को अपना दूत बनाकर अपनी प्रिया के पास भेजना चाहता है। तुलसी के राम की विकलता तो इन पंक्तियों में मुखर हो उठी है-

हे खगमृग, हे मधुकर स्रेनी
तुम देखी सीता मृगनैनी?

कोई उत्तर नहीं देता। ढोला-मारू-रा दोहा की मारवाणी भी कुंझा पक्षी से कुछ कहना चाहती है, पर वह उड़ जाता है। किन्तु जायसी का पक्षी अधिक सहृदय है।

नागमती के बहुत रोने के बाद भी किसी पर कोई असर नहीं पड़ा तब आधी रात को एक पक्षी बोल उठा-

फिरि फिरि रोइ कोइ नहि डोला।
आधी रात बिहंगम बोला॥

नागमती का संदेश लेकर पक्षी सिंहल तक जाता है।

'बारहमासा' में अवध जनपद की संस्कृति विभिन्न महीनों की विशेषताओं, हर महीने के उत्सव-त्यौहारों के बीच मूर्तिमान और विरह-वेदना प्रगाढ़ हो उठती है। इसके ऊपर अवधी की ठेठ मिठास-

बरसै मघा झँकोरि झँकोरि। मोर दोउ नैन चुवइ जनु ओरी॥

कभी वह हिंडोला देखती है, कभी स्त्रियों की झूमर सुनती है। प्रिय की अनुपस्थिति में मनोरा की पूजा भी संभव नहीं है। फागुन में चाँचर होता है। वह मूक भाव से सब कुछ देखती रह जाती है। प्रिय के आगमन तक सारे उत्सव स्थगित हैं।

अवधी का अरघान- जायसी की अवधी 'अवधी की अरघान' है। यह अवधी किसी अन्य कवि में नहीं मिलेगी। जायसी का जो कुछ पढ़िए, अवधी की रस-गंध जरूर मिलेगी। तुलसी की भाषा में यह मिठास नहीं है। तुलसी की अवधी पर संस्कृत का गहरा प्रक्षेपण है। संभवत: इसलिए अवध जनपद की ठेठ संस्कृति भी उनमें नहीं मिलती। 'बंदउ गुरु पद पदुम परागा' में कितनी अवधी है! जायसी की भाषा ठेठ अवधी है तो तुलसी की संस्कृतनिष्ठ। यह अन्तर दोनों की विषयवस्तु में भी है। एक में लोककथा है इसलिए लोकभाषा, दूसरे में क्लासिकल कथा है, इसलिए संस्कृतनिष्ठ भाषा।

जायसी अपने शब्दों का चुनाव गाँव-गिराँव के छप्परों, झोंपड़ियों, उत्सवों-त्यौहारों, सामान्य स्त्री-पुरुष की बातों से करते हैं जो उनके चारों ओर बिखरे पड़े हैं। गोस्वामीजी की शब्द-संपदा नाना-पुराण निगमागम से गृहीत है। जायसी में समस्त पद कम मिलेंगे, गोस्वामीजी में बहुत अधिक हैं। जायसी के समस्त पदों का विन्यास फारसी की पद्धति के अनुरूप है।

उनकी वाक्य-रचना के बारे में शुक्लजी ने लिखा है-"जायसी की वाक्य-रचना स्वच्छ होने पर भी तुलसी के समान सुव्यवस्थित नहीं है। उसमें जो वाक्य-दोष मुख्यत: दिखाई पड़ता है वह 'न्यून पदत्व' है। विभक्तियों का लोप, सम्बन्धवाचक सर्वनामों का लोप, अव्ययों का लोप जायसी में

बहुत मिलता है।" संभवत: यह लोप उस समय की अवधी में होता रहा होगा। गोस्वामीजी ने अवधी को संस्कृत का संस्कार दिया है, इसलिए सामान्यत: उसकी नोक-पलक दुरुस्त है।

आगे चलकर शुक्लजी ने दोनों की भाषा का अंतर स्पष्ट करते हुए बड़े विनोदपूर्ण ढंग से लिखा है-

यदि गोस्वामीजी ने अपने 'मानस' की रचना ऐसी भाषा में की होती जैसी कि इन चौपाइयों की है-

कोउ नृप होउ हमैं का हानी। चेरि छाँड़ि अब होब कि रानी।
जारै जोग सुभाव हमारा। अनभल देखि न जाइ तुम्हारा॥

तो उनकी भाषा 'पद्मावत' ही की भाषा होती और यदि जायसी ने सारी 'पद्मावत' की रचना ऐसी भाषा में की होती जैसा कि इस चौपाई की है-

उदधि आइ तेहि बंधन कीना। इति दसमाथ अमर पद कीन्हा॥

इकाई-चार

लघुउत्तरीय ज्ञान

चंदवरदाई के रासो में काव्य-वैभव

'शशिवृता-विवाह' मूल रासो का ही एक प्रमुख अंग तथा अध्याय है। इसके माध्यम से वस्तुत: समूचे 'पृथ्वीराज रासो' के काव्य-सौष्ठव, कथ्य कथानक के केन्द्रीय भाव तथा आलोचना से संबंधित जो कुछ भी हो सकता है, उस सबको जाना परखा जा सकता है।

कवि चंदवरदायी ने शशिवृता 'पृथ्वीराज' विवाह के लिए बड़ी कुशलता से श्रुत्यनुराग या पूर्वराग प्रसंग की अंत: योजना की है। गंधर्व का हंस बनकर प्रस्तुत होना कवि कल्पना की परंपरागत पर सुन्दर योजना है, जिसके कारण वस्तु के स्वरूप विधान में भावी की प्रत्यक्ष योजना हो जाती है। इस योजना से पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता का अपहरण करना असामान्य न होकर सामान्य तथा सुंदर कृत्य बन गया है। पूर्व-राग की कल्पना ने सभी कुछ को बड़ा ही आकर्षक तथा सुन्दर बना दिया है। कवि ने शशिवृता को एक मुग्धा अथवा वय-संधि प्राप्त नायिका के रूप में बड़े ही आकर्षक ढंग से प्रस्तुत किया है। इस तरह के प्रस्तुतीकरण का आकर्षक उदाहरण देखें-

"काका अरू सूरज्ज बिच, उदै अस्त दुंहु बेर।
बर शशिवृत्ता सोभई, मनौं श्रंगार सुमेर।"

इस तरह चंदवरदायी द्वारा वर्णित पृथ्वीराज चौहान की अन्य नायिकाओं की तुलना में शशिवृत्ता का रूप-शील कहीं ज्यादा प्रवर्द्धित हो गया है। वय संधि को प्राप्त शशिवृता के तन पर अब पूर्ण यौवन का आगमन हो रहा है। इस यौवनागमन की तुलना वसंत से करते हुए कवि कहता है-

"पत्त पुरातन झरिग पत्त अंकुरिय उट्ठ तुछ।
ज्यौं सैसव उत्तरिय चढ़िय बैसव किसोर कुछ॥
शीतल मंद सुगंध आह रितिराग अचानं।
रोमराह सग कुच नितंब तुच्छं सरसानं॥

बढ्ढै न सीत करि छीन ह्वै लज्ज मांग ढंकनि फिरै।
ढंकै न पत्त ढंकै कहै, बन वसंत मंत जु करै॥

राजकुमारी शशिवृता के मन में पूर्वराग के कारण अपने प्रिय प्रियतम पृथ्वीराज का एक कल्पित चित्र विनिर्मित हो चुका है। जब उसका पृथ्वीराज के साथ प्रथम साक्षात्कार होने लगता है, तब उसकी मानसिक स्थिति जिस अपूर्व रस में विनिमज्जित हो रही है कवि चंदवरदायी ने इसका बड़ा ही रोमांचक तथा पूर्ण मनोवैज्ञानिक चित्र काव्य में प्रस्तुत किया है-

"यौ करंत दुत्तिय बियौ, कथा श्रवन सुनि मंत।
जाकौ तै पतिवृत लिय, सो आयो अलि कंत॥
श्रवन नैन को भेल कै, भय चंयल चल चित।
श्रोतान दिष्टान अरू, मिलि पुच्छै दीह मित्त॥

कवि ने वास्तूत्प्रेक्षा के द्वारा इस वर्णन में जो उत्कर्ष एवं चमत्कार पैदा कर दिया है वस्तुत: अन्यत्र वह बहुत कम ही देखने को मिलता है। प्रिय के प्रथम-दर्शन के समय की स्थिति का यह वर्णन वस्तुत: बड़ा ही मनोरम है। इसी तरह कथावस्तु में जब पृथ्वीराज द्वारा शशिवृता को पहली बार स्पर्श करने का वर्णन आता है। तब कवि ने बड़ी ही मार्मिक उत्प्रेक्षा इन शब्दों में की है-

"मानो कि लता कंचन लहरि मत्तबीर गजराज गहि।"

जैसे प्रेम-भाव अपनी पूर्ण उमंगों-तरंगों के साथ तरंगायित होकर छलक पड़ना चाहता है। उस क्षण कवि ने लज्जा से अभिभूत शशिवृता के मन में भावों की तरंगायिता एवं शबलता का जो वर्णन किया है, अपनी समग्रता में वह बड़ा ही आकर्षक तथा उत्तेजक है-

"गहत बाल पिय पानि सु गुरजन संभरे।
लोचन मोचि सुरंग सु मंसु बहे ढरे॥
लोपमंगल जिय जानि सुनैनन मुष बही।
मनो षंजन मुष भ्रत्ति मरक्कत नंष ही॥"

इतना ही नहीं, उस क्षण शशिवृता को 'कोमलता कल ही प्रेम मारूत झकझोरी' कहकर अपनी वर्णना में और भी अधिक सौंदर्य ला दिया है। इस तरह के सुंदर और आकर्षक वर्णन अपनी प्रभविष्णुता और शशिवृता-विवाह-प्रसंग के भाव-पक्ष को अत्यधिक चमत्कारपूर्ण बना देने वाले हैं। फिर जब भीषण युद्ध की छाया और शस्त्रों की टंकार के नीचे शशिवृता को अपने प्रियतम पृथ्वीराज के साथ पहली रात उसके सैन्य शिविर में व्यतीत करनी पड़ती है, तब कवि की कल्पना माधुर्य स्नात होकर लेखनी के माध्यम से जैसे सरसता की वर्षा करने लगती है-

"कुमुद उथरि मूंदिग सु बंधि सतपत्र प्रकारय।
चकिय चक्क बिच्छुरहि, चक्कि ससिवृत्त निहारिय।
जुवती जन चढ़ि काम जाहि, कोतरतर पंषी।
आवृत्त वृत्त सुंदरिय काम बडिढय वर अंषी।
नव निद्धि हंसह मिलै, बिमल चंद उग्यौ सु नभ।
सामंत सूर न्रप रष्षि कै, करहि बीर बीश्राम सम॥

चंदवरदाई के पृथ्वीराज रासो में रस योजना

इस तरह 'शशिवृता-विवाह' प्रसंग का सौंदर्य-वर्णन, अंत: भावों का वर्णन अतीव स्वाभाविक तथा प्रभावी कहा जा सकता है। यह समूचा वर्णन रस योजना की दृष्टि से श्रृंगार रस के अंतर्गत

ही हुआ है, यह बात एकदम स्पष्ट है। वस्तुत: भाव पक्ष की योजना हेतु कवि ने प्रस्तुत प्रसंग में श्रृंगार रस को ही प्रधानता प्रदान की है। यों समग्र रूप में 'पृथ्वीराज रासो' में वीर रस प्रधान और श्रृंगार उसका सहायक है पर प्रस्तुत प्रसंग में इसके एकदम विपरीत हुआ कहा जा सकता है। यहां श्रृंगार रस प्रधान हो गया है और उसकी सहायता तथा सुरक्षा के लिए ही वीर रस का अभियोजन हुआ है। श्रृंगार के अंतर्गत सौंदर्य प्रसाधन एवं नख-शिख सौंदर्य चित्रण भी बड़ा ही सुरम्य बन पड़ा है। नख-शिख सौंदर्य वर्णन से संबंधित निम्नलिखित पद्य भी देखें। वर्णन कितना सजीव साकार है-

"भय भंजन मंडित बाल तनं। धन सार सुगंध सुबोरि धनं"
नव लोचन अंजित मंजि चली। कि मनो कसं कुंदन षंभ हली।
सुभ वस्त्र सु अंग सुरंगन-सी। सुहली मनु साष सुमन्न कसी॥
जरि जहेरि पाइ जराई जरी। सजि भूषन नम्भ मनो उतरी।
सिगरी लट यों बिथरी बगसैं। शशि के मुख ते अहि से निकसै।
रंग रत्त उवट्टन उज्जल कै। तिन में कछु सेत सुधा चलिकै॥
नव राजिय रोम विराज इसी। जमना पर गंग सुस सति सीरा॥"

इस तरह के वर्णनों में कवि ने अत्यधिक आलंकारिकता से काम लिया है। खुले केशों में शशिवृता कैसी लग रही है, इसका आलंकारिक वर्णन करने वाली दो पंक्तियां देखें-

बाला बेनि छोरिकरि छुट्टै षिहर सुभाइ॥
कनन थभ तें ऊत्तरी उरग सुता दरसाइ।"

प्रस्तुत प्रसंग की नायिका मुग्ध एवं अज्ञात यौवना है। इस रूप में वय-संधि में कवि ने जो आकर्षण अपने चित्रणों में संजो दिया है, वस्तुत: वह बड़ा ही मनोरम तथा कवि प्रतिभा का कायल बना देने वाला है। उदाहरणस्वरूप कुछ पंक्तियां प्रस्तुत हैं-

"ससिर अंत आबन बसंत बालह सैसब गम।
अलिन पंष कोकिल सुकंठ सजि झुंड मिलत भ्रम॥
मुर मारुत मुरि चले मुरै मुरि बैस प्रमानं।
तुछ कोंपर सिस फुट्टि आन किस्सोर रंगानं।
लीनी न अंमित्तक स्यांम तन मधुर मधुर धुनि-धुनि करिय।
जानि न बयन आवन वसंत अग्याता जोवन अरिय॥"

इस तरह उपरोक्त उद्धरणों से स्पष्ट हो जाता है कि भाव रस योजना के अंतर्गत श्रृंगारिक वर्णन का जो रूपायन इस प्रसंग में हुआ है, वस्तुत: वह अत्यंत सजीव तथा आकर्षक बन पड़ा है। कवि का मन शशिप्रभा के माध्यम से नायिका के अंग-प्रत्यंग के वर्णनों में, श्रृंगार की विविध स्थितियों के प्रसंगानुकूल उद्यान में खूब रमा है। अंग सौष्ठव के साथ ही कवि ने उस युग के अनुरूप सामंती नारियों के भूषणा-भूषणों के चित्रण में भी अत्यधिक गहरी रुचि दिखाई है।

इस योजना की दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग में श्रृंगार के बाद वीर रस का क्रम आता है। वीर रस के साथ रौद्र, भयानक, वीभत्स आदि रस स्वत: ही आ जाया करते हैं। कथा-नायक पृथ्वीराज वीरत्व के सजग साकार स्वरूप माने जाते हैं। उनके सामंतगण तथा विपक्षी भी वीरत्व में किसी भांति कम नहीं हैं। कवि ने काव्य में वीरत्व के धर्म और लक्ष्य का भी प्रत्यक्षत: प्रतिपादन किया है। इस तरह का प्रतिपादन एवं चित्रण करते हुए कवि कहता है कि वीरत्व प्रदर्शन के मार्ग में ही वीरगण भुक्ति और मुक्ति दोनों को प्राप्त दोनों को प्राप्त करते हैं। वीरत्व का दिग्दर्शन कराने वाला निम्नलिखित उद्धरण देखिए-

"चाहुआंन कमधज्ज वर। मिले लोह छुटि छोह॥
धार मुरै मुष न मरै। भट्ट मुच्छ क्रत जोह॥"

कवि ने वीरता प्रदर्शन का आलंकारिक वर्णन करते हुए उसे एक महान् यज्ञ का स्वरूप प्रदान कर दिया है। ध्यातव्य है कि इस वर्णन में वीर के सहायक रस भी समन्वित हैं। देखिए-

"विषम जग्य आरंभ। बेद प्रारंभ शाझ बल॥
है गै नर होमियै। शीश आहुति स्वस्ति फल॥
क्रोध कुड विस्तरिय। कित्ति मंडप करि मंडिय॥
गिद्धि सिद्धि बेताल। पेषि पल साकृत छंडिय॥

इस तरह के अन्य अनेक उदाहरण भी काव्य में से प्रस्तुत किए जा सकते हैं कि जिनमें अपने समस्त लक्षणों तथा सहायकों-सहित वीर रस साकार हो उठा है। वीरगण वीरता प्रदर्शन के समय सब प्रकार के माया मोह के बंधनों से मुक्त होकर मात्र युद्ध के उत्साह से सन्नद्ध हैं। कवि के शब्दों में देखें-

"बीर बीर वीराधि वर। कढे लोह तजि छोह॥
सर धीर सामंत गति। नहिं माया नहिं मोह॥"

उपरोक्त पद्य में 'रौद्र रस' की सृष्टि भी देखी जा सकती है। कवि ने पृथ्वीराज को तो साक्षात् रुद्र रस का अवतार ही बताते हुए कहा है-"रुद्र पृथ्वीराज बिराजै।" इसी प्रकार भयानक और वीभत्स रसों के लिए भी अनेक उदाहरण खोजे जा सकते हैं। एकाध स्थल पर अद्‌भुत रस की पुष्टि होती हुई भी दिखाई देती है, जैसे-

"मुष छुट्ट। अप बैनं। के दिट्ठाय धावता नैनं।"

वीर, भयानक, रौद्र, वीभत्स रसों के समन्वित उदाहरण काव्य में अधिक हैं। 'शशिवृता-विवाह' प्रसंग में दो पद्य ऐसे भी आए हैं जिनमें कवि ने एक ही परिप्रेक्ष्य में नवों रसों की एक साथ अवस्थिति का बड़ा ही प्रभावी वर्णन किया है।

इसी प्रकार रसों का समन्वित वर्णन अन्यत्र भी देखा जा सकता है। सो उपयुक्त रसों की योजना की दृष्टि से प्रस्तुत प्रसंग निश्चित ही महत्वपूर्ण है।

चंदवरदाई के पृथ्वीराज रासो में प्रकृति चित्रण

'शशिवृता-विवाह-प्रसंग' में अंत: सौंदर्य विधान के लिए कवि ने कहीं-कहीं प्रकृति चित्रण का आश्रय भी लिया है। ध्यातव्य तथ्य यह है कि प्रकृति का चित्रण प्रसंगानुकूल उद्दीपन के रूप में किया जाकर भी वस्तुत: मुक्त तथा स्वच्छंद प्रतीत होता है। फिर उसमें दृश्यमयता तो है ही, नाद और घ्राण्य बिम्बों की भी अद्‌भुत योजना मिलती है। परंपरागत उपमान-उपमेय की योजना होते हुए भी वर्णनों में अंतरंगता एवं आत्मीयता है। प्रकृति के सुरम्य स्वरूप को साकार करने वाला एक उदाहरण देखें-

परि निसान गतभान भइग बर॥
सिंधु संपतौ जाइ तिमिर चढै गुर॥
कुमुद बिमुद अंकुर सुरातन धरियं॥
मानौं तम को तेज सुतत्तउ धरियं॥

प्रकृति चित्रण से संबंधित पद्य प्रस्तुत पद्य स्वल्प मात्रा में ही अर्थात् दो चार ही है, पर निश्चय है कि कवि की प्रकृति को सूक्ष्म रूप से निरीक्षण कर सकने की क्षमता का पूर्ण परिचय दे जाते हैं।

चंदवरदाई के के पृथ्वीराज रासो में भाव वर्णन

'पृथ्वीराज रासो' के परिप्रेक्ष्य में कवि चंदवरदायी की भाव-वर्णन की कुशलता एवं कलात्मक अभिव्यक्तियों के संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं डॉ. नामवरसिंह ने लिखा है- "अभिव्यक्ति-कौशल ऐसी भाव-प्रगल्लभता कुशल कवि से ही संभव है। रासो के शिल्प-सौंदर्य पर ही विचार करते हुए सबसे पहले जिस बात की ओर ध्यान दिया जाता है, वह यह है कि इसके कवि को काव्य की पूर्वपरंपरा का अद्‌भुत ज्ञान था तथा साथ ही भावावेग के अभिनव उत्थान में पूर्ववर्ती काव्य-परंपरा को ढालने की क्षमता भी थी। ह्रास-युग की इस कृति में इससे ज्यादा शिल्प-सौंदर्य की क्षमता संभव न थी। उस युग के अन्य कुशल कवियों की भांति रासोकार ने भी पूर्व कवियों की कही हुई उक्तियों में अपनी सूझ के अनुसार थोड़ी-बहुत विशेषता झलकाने में प्राय: जौहर दिखाया है और यही उस युग का सबसे बड़ा बहु-प्रशंसित काव्य-कौशल था।" ये बातें समूचे रासो के संदर्भ में तो अभिव्यक्ति-कौशल, शिल्प-पक्ष या कला-पक्ष के संदर्भ में ठीक हैं ही, हमारे आलोच्य प्रसंग 'शशिवृता-विवाह' के संदर्भ में भी एकदम संगत एवं उचित हैं। तभी तो उपरोक्त संदर्भ में भी विद्वान द्वेष ने लिखा है कि-"शशिवृता की नयन-श्रवण-वार्ता में चंद की वह प्रवृत्ति देखी जा सकती है। इसी तरह नख-शिख-वर्णन में भी काव्य रूढ़ियों का पुनमार्जन लक्षित होता है। ...प्राय: कवियों की विशेषता मानवीय मनोभावों की सहज परख लक्षित हुई है तथा ऐसे प्रसंगों में रासोकार भी ऊंचे उठ जाता है।" इस आलोक में ही वस्तुत: 'शशिवृता-विवाह-प्रसंग' में कला-पक्ष अथवा अभिव्यक्ति-पक्ष को समझा-परखा जा सकता है।

भाषा पर विचार इसी पक्ष के अंतर्गत-या फिर स्वारूप्य विधान के अंतर्गत आता है। समूचे रासों में प्रस्तुत प्रसंग को कविवर भाषा का आदर्श कहा जा सकता है। भाषा पर कवि का पूर्ण अधिकार सर्वत्र परिलक्षित होता है।

भाषा भी प्रयोगों के समान कविवर चंद ने 'शशिवृता विवाह' प्रसंग में छंद वैविध्य में भी अपनी पूर्ण प्रगल्भता का परिचय दिया है। छंद शास्त्र का उन्हें पूर्ण ज्ञान तो है ही, रस भाव के अनुकूल छंद का प्रयोग करने की कला में भी वे अपना सानी नहीं रखते। सत्य तो यह है कि उनकी भाषा की भंगिमा तथा तेवर भी छंदानुकूल ही प्रवाहित होने लगते हैं तथा विचारों भावों की सरणियों को समेटते हुए अनवरत प्रवाहित होते जाते हैं। इस संबंध में आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी एवं डॉ. नामवर सिंह के अंतव्य द्रष्टव्य हैं-"छंद भाषा की गति तथा भंगिमा है। इसलिए चंद जैसे भाषा पर अचूक अधिकार रखने वाले कवि की छंद भंगी स्वाभाविक है। वस्तुत: हिन्दी में चंद को छंदों का राजा कहा जा सकता है। भाव भंगिमा के साथ-साथ दनादन भाषा नये-नये छंदों की गति धारण करती चलती है तथा विशेषता यह है कि इस बलखाती हुई नदी में बहते हुए चित्त को कोई मोड़ नहीं खटकता। छंद परिवर्तन के प्रवाह में सहज आत्म-विस्मृति का ऐसा सुख अन्यत्र कहीं नहीं मिलता।... इसलिए तो 'सरोज' के रचयिता श्री शिव सिंह सेंगर ने चंद को छप्पयों का राजा कहा है।" इस राजा ने अकेले 'शशिवृता विवाह' प्रसंग में जितने सुकर और सुघड़ छंदों का प्रयोग किया है, उनकी संख्या ही वस्तुत: चौंका देने वाली है। उन्होंने इस प्रसंग में क्रमश: दोहा, चौपाई, कवित्त, मोटक, भ्रजंगी, नाटक गाथा, चंद्रायन, कुंडलियां, नाराच, अरित्व, भिभंगी, मुरिल्वी, रसावल जैसे चौदह छंदों का अनेकश: प्रयोग किया है। प्रयोग में सहजतान स्वाभाविक, तल्लीनता, अपनत्व एवं स्वाभाविकता है। ऊपरी प्रदत्त विद्वानों के मतों को जान लेने के बाद वस्तुत: कवि चंद के छंद प्रयोग के बारे में और कुछ भी कहना शेष नहीं रह जाता।

चंदवरदाई कृत 'रासो' की भाषागत विशेषताएं

काव्य की आत्मा है भाव। उन भावों को भाषा ही वहन करके अभिव्यक्ति प्रदान किया करती है। अत: काव्यों का मूल्यांकन करते समय भाषा दृष्टियों से भी विचार किया जाता है। भाषा का विवेचन काव्य के शिल्प विधान, कला पक्ष या अभिव्यक्ति-पक्ष के अंतर्गत आता है। निश्चय काव्य की सफलता-असफलता का दारोमदार उसकी भाषा पर बहुत कुछ रहता है। इसी कारण इसी काव्य की सफलता असफलता का विवेचन भाषा की दृष्टि से भी किया जाता है।

चंदबरदाई जितने महान कवि थे, उतने ही उन्मुक्त प्रकृति के व्यक्ति भी थे। बंधनों की सीमाओं को स्वीकार करना निश्चित ही उनके प्रकृति में नहीं था। यही कारण है कि उन्होंने काव्यशास्त्रीय किसी भी सिद्धांत का अक्षरश: पालन नहीं किया है। उदाहरण के लिए रासो की छंद-योजना को प्रस्तुत किया जा सकता है। रासो में हालांकि लगभग 71 छंद प्रयुक्त हुए हैं, किन्तु सभी छंद छंदशास्त्र की दृष्टि से शुद्ध नहीं हैं। किसी-किसी में कवि की उन्मुक्त प्रकृति कार्यरत है। यही बात भाषा के विषय में भी कही जा सकती है। उन्होंने तो स्पष्ट घोषणा कर दी-

'उक्ति कर्म शिलालस्य, राजनीति नवं रस।

षट भाषा पुराण च, कुरानं कचिक मया।

और ये छ: भाषाएं हैं-संस्कृति, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाचिक, आगध तथा शोरमेनी। इनके अतिरिक्त और अपक भाषाओं के प्रयोग भी रासों में मिलते हैं जिनसे निष्कर्ष निकलता है कि चंद का 'षट भाषा' से आशय 'अनेक भाषाओं' से है वस्तुत: रासो में अनेक भाषाओं का प्रयोग भी हुआ है।

भाषा की इस अनेकता के कारण भी आलोचकों में रासो में भी भाषा के प्रति कई प्रकार के मत प्रचलित हैं। यदि एक आलोचक रासो की भाषा की निंदा करता है तो दूसरा प्रशंसा। वास्तविकता यह है कि चंद ने सदैव भाषा को गौण स्थान दिया है और भावों को प्रमुखता दी है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि चंद के लिए भाव माध्यम है तथा भाषा साधन। प्रत्येक सत्काव्य निर्माता का दृष्टिकोण होता है। भाषा की अनेक विधाओं का कारण भी कुछ विद्वान 'पृथ्वीराज रासो' को अप्रामाणिक रचना सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं, जो कि कवि को उन परिवर्तित प्रकृति एवं रुचि दृष्टियों से ठीक नहीं।

रासो की भाषा की विवेचना करने के लिए इसे निम्नलिखित तीन शीर्षकों में विभाजित किया जा सकता है- 1. अलंकार-योजना, 2. छंद योजना, 3. भाषा का स्वरूप।

अलंकार योजना तथा छंद योजना के विषय में यहां कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं है, क्योकि इनका विस्तार से विवेचन पहले किया जा चुका है। यहां तो केवल इतना ही कहा जा सकता है कि रासो की अलंकार योजना और छंद-योजना ये दोनों योजनाएं कृति के भावों की उत्कर्षता एवं प्रभाव-वित्णुता प्रदान करती है। कवि ने सभी रसों की योजना में आलंकारिक भाषा का प्रयोग मुक्त भाव से किया है।

रासो में कवि ने हिन्दी इतर भाषाओं के शब्दों का प्रयोग खुले रूप से प्रयोग किया है। यथा-रहदी, हनंदे, सुनंदी, लूसंदा, आवंदा आदि पंजाबी के शब्द तथा अमीर हमीर, हम्मीर, सहर, हसम, अरदास आदि अरबी फारसी के शब्द। लाहौर (पंजाब) का निवासी होने के कारण मूल या विकृत रूप में, असल में पंजाबी शब्दों की रासो में भरमार है। ऐसा होना स्वाभाविक भी है। अपभ्रंश भाषाओं के शब्दों की भरमार भी स्वीकारी जा सकती है और फिर पंजाबी भी तो वास्तव में एक अपभ्रंश ही है। इसके अतिरिक्त कहीं-कहीं संस्कृत के शब्द ही नहीं, वरन् संस्कृत का वाक्य विन्यास भी मिलता है यथा-

'उक्ति कर्म विशालस्य राजनीति नवं रसं।

षट्भाषा पुराण च कुरान कचित मया॥

अत: कहा जा सकता है कि रासो की भाषा स्वच्छंद होते हुए भी अत्यंत समृद्धिशाली और विकासशील है क्योंकि उस युग में पुरानी भाषा का अंत और नई भाषा का उदय हो रहा था, अत: रासो की भाषा का विकासशील होना पूर्ण तथा स्वाभाविक ही कहा जाएगा।

अमीर खुसरो की तत्कालीन संस्कृति तथा साहित्य की देन

अमीर खुसरो का जन्म 1310 एवं मृत्यु 1380 में हुई। वे तत्कालीन पछोंही बोली का परिचय देने वाले खुसरो हैं। इनके रचना काल का आरंभ सं. 1340 से होता है। इन्होंने गुलाम वंश से खिलजी वंश तक की ऋतुएं देखी हैं। ये फारसी के बहुत अच्छे ग्रंथकार और अपने समय के नामी कवि थे। स्वभावत: विनोदशील स्वभाव होने के कारण हल्के साहित्य की ओर भी इनकी रुचि थी। मिलनसार प्रवृत्ति इन्हें जनता की भावना में योग देने को बाध्य करती थी। यही कारण है कि जनता को रुचिकर लगने वाली पहेलियों, मुकरियों तथा तुक बंदियों को लिखा करते थे। हां, कुछ रसीले गीत एवं दोहे भी लिखे हैं।

उस समय काव्य भाषा पुरानी ब्रज ही थी। खड़ी बोली के प्रदेश में भी जनता की रचनाएं ब्रज की ओर झुकी रहती थीं। खुसरो की हिन्दी रचनाओं में भी दो प्रकार की भाषा पाई जाती है-(i) पहेलियों, मुकरियों एवं दो सखुनों की भाषा ठेठ बोल-चाल की भाषा है, उसमें कहीं-कहीं ब्रज का भी पुट है। (ii) गीतों तथा दोहों की भाषा ब्रज या मुख प्रचलित काव्य भाषा है। इनकी भाषा में इतनी नवीनता कैसे आ पाई है? यह संदेह तब और बढ़ जाता है, जब 200 वर्ष बाद होने वाले कबीर की भाषा में प्राकृत आदि पद मिलते हैं और पर्याप्त पुरानापन लक्षित होता है। विचार करने पर ये दोनों बातें सकारण जान पड़ती हैं। खुसरो में चिकनाहट तीन कारणों से लक्षित होती है-

(i) *समय-समय पर होते रहने वाले प्रक्षेप,*

(ii) *मुख परंपरा में जीवित रहना,*

(iii) *लोक की ओर अति झुकाव,*

और बहुत बाद में होने वाले कबीर की रचनाओं में जो इतना पुरानापन दिखाई पड़ता है, उसके निम्नलिखित कारण हैं-

(i) धर्मोपदेशकता की प्रवृत्ति, (ii) पुरानी पोथियों की उक्तियों का सहारा, कुछ कोषों की भी रचनाएं इनके द्वारा हुई हैं।

अमीर खुसरो के काव्य का महत्व

यद्यपि खुसरो की महत्ता उनके फारसी काव्य पर आश्रित है, लेकिन उनकी लोकप्रियता का कारण उनकी हिन्दवी की रचनाएं ही हैं। हिन्दवी में काव्य-रचना करने वालों में अमीर खुसरो का नाम सर्वप्रमुख है। अरबी, फारसी के साथ-साथ अमीर खुसरो को अपने हिन्दवी ज्ञान पर भी गर्व था। उन्होंने स्वयं कहा है-"मैं हिन्दुस्तान की तूती हूं। अगर तुम वास्तव में मुझसे जानना चाहते हो तो हिन्दवी में पूछो। मैं तुम्हें अनुपम बातें बता सकूंगा।" अमीर खुसरो ने कुछ रचनाएं हिन्दी या हिन्दवी में भी की थीं, इसका साक्ष्य स्वयं उनके इस कथन में प्राप्त होता है-"जुजवे चंद्र नज्मे हिन्दी-नजरे दोस्तां करदां अस्त।" उनके नाम से हिन्दी में पहेलियां, मुकरियां, दो सुखने तथा कुछ गजलें प्रसिद्ध हैं। इसके अतिरिक्त उनका फारस-हिन्दी कोश खालिकबारी भी इस प्रसंग में उल्लेखनीय है।

अमीर खुसरो की रचनाओं का प्रकाशन

अमीर खुसरो ने 92 साहित्यिक एवं ऐतिहासिक पुस्तकों की रचना की है। अमीर खुसरो मुख्य रूप से फारसी के कवि हैं। फारसी भाषा पर उनका अप्रतिम अधिकार था। उनकी गणना महाकवि फिरदौसी, शेख सादिक तथा निजामी फारस के महाकवियों के साथ होती है। फारसी काव्य के लालित्य तथा मार्दव के कारण ही अमीर खुसरो को 'हिन्द की तूती' कहा जाता है। खुसरो का फारसी काव्य चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है-ऐतिहासिक मसनवी जिसमें किरानुससादैन, मिफतोलफतह, देवलरानी खिज्रखां, नूहसिपहर और तुगलकनामा नाम की रचनाएं आती हैं; रोमांटिक मसनवी-जिसमें मतलभ लअनवार, शिरीन खुसरो, आईन-ए-सिकंदरी, मजनू-लैला और हश्त विहश्त गिनी जाती है; दीवान-जिसमें तुहफ तुस सिगहर, वास्तुलहयात आदि ग्रंथ आते हैं; गद्य-रचनाएं-'एजाजयेखुसरवी' और 'खजाइनुलफतह तथा मिश्रित'-जिसमें 'वेदऊलअजाइव', 'मसनवी शहरअसुब', 'चिश्तान' और 'खालितबारी' नाम की रचनाएं परिगणित हैं। उन्होंने सन् 1289 ई. में 'मसनवी किरानुससादन' की रचना की। गुलाम वंश के पतन के बाद जलालुद्दीन खिलजी दिल्ली का सुल्तान हुआ। उसने खुसरो को अमीर की उपाधि से विभूषित किया। खुसरो ने जलालुद्दीन की प्रशंसा में 'मिफ्तोलफ तह' नामक ग्रंथ की रचना की। जलालुद्दीन के हत्यारे उसके भतीजे अलाउद्दीन ने भी सुल्तान होने पर अमीर खुसरो को उसी तरह सम्मानित किया तथा उन्हें राजकवि की उपाधि प्रदान की। अलाउद्दीन की प्रशंसा में खुसरो ने जो रचनाएं कीं वे अभूतपूर्व थीं। खुसरो की अधिकांश रचनाएं अलाउद्दीन के राज्यकाल की ही हैं। 1298 से 1301 ई. की अवधि में उन्होंने पांच रोमांटिक मसनवियां-1. मल्लोल अनवर, 2. शिरीन खुसरो, 3. मजनू-लैला, 4. आईन-ए-सिकंदरी और 5. हश्त विहिदत-लिखीं। ये पंच-गंज नाम से प्रसिद्ध हैं। ये मसनवियां खुसरो ने अपने धर्म-गुरु शेख निजामुद्दीन औलिया को समर्पित कीं तथा उन्हें सुल्तान अलाउद्दीन को भेंट कर दिया। पद्य के अतिरिक्त खुसरो ने दो गद्य-ग्रंथों की भी रचना की-1. खजाइनुल फतह, जिसमें अलाउद्दीन की विजयों का वर्णन है और 2. एजाजयेखुसरवी, जो अलंकार ग्रंथ है। अलाउद्दीन के शासन के अंतिम दिनों में खुसरो ने देवलरानी खिज्रखां नामक प्रसिद्ध ऐतिहासिक मसनवी लिखी।

अलाउद्दीन के उत्तराधिकारी उसके छोटे पुत्र कुतुबुद्दीन मुबारकशाह के दरबार में भी खुसरो ससम्मान राजकवि के रूप में बने रहे। यद्यपि मुबारकशाह खुसरो के गुरु शेख निजामुद्दीन से शत्रुता रखता था। इस काल में खुसरो ने नूहसिपहर नामक ग्रंथ की रचना की जिसमें मुबारकशाह के राज्यकाल की मुख्य-मुख्य घटनों का वर्णन है।

खुसरो की अंतिम ऐतिहासिक मसनवी 'तुगलक' नामक है जो उन्होंने गयासुद्दीन तुगलक के राज्यकाल में लिखी और जिसे उन्होंने उसी सुल्तान को समर्पित किया।

रैदास का संक्षिप्त जीवन वृत्तांत

मध्ययुगीन संतों में रैदास का महत्वपूर्ण स्थान है। संत रैदास कबीर के समसामयिक कहे जाते हैं। अत: इनका समय सन् 1388 से 1588 ई. (सं. 1445 से 1575 ई.) के आस-पास का रहा होगा। अंत:साक्ष्य के आधार पर रैदास का चमार जाति का होना सिद्ध होता है-"नीचे से प्रभु आंच कियो है कह रैदास चमारा" आदि। संत रविदास काशी के रहने वाले थे। इन्हें रामानंद का शिष्य माना जाता है। लेकिन अंत:साक्ष्य के किसी भी स्रोत से रैदास का रामानंद का शिष्य होना सिद्ध नहीं होता। इसके अतिरिक्त रैदास की कबीर से भेंट की कथाएं प्रसिद्ध हैं लेकिन उनकी प्रमाणिकता संदिग्ध है। नाभादासकृत 'भक्तमाल' में रैदास के स्वभाव और उनकी चारित्रिक उच्चता का प्रतिपादन मिलता है। प्रियादासकृत 'भक्तमाल' की टीका के अनुसार चित्तौड़ झालारानी उनकी शिष्या थी, जो महाराणा सांगा की पत्नी थी। इस दृष्टि से रैदास का समय सन् 1482-1557 ई. (सं. 1539-1584 वि.) अर्थात् विक्रम की सोलवीं शती के अंत तक चला जाता है। कुछ लोगों का

अनुमान है कि यह चित्तौड़ की रानी मीराबाई ही थीं तथा उन्होंने रैदास का शिष्यत्व ग्रहण किया था। मीरा ने अपने अनेक पदों में रैदास का गुरु रूप में स्मरण किया है-"गुरु रैदास मिले मोहि पूरे, धुरसे कलम भिड़ी। सत गुरु सैन दई जब आके, जोत रली।" रैदास ने अपने पूर्ववर्ती तथा समसामयिक भक्तों के संबंध में लिखा है। उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर तथा समसामयिक भक्तों के संबंध में लिखा है। उनके निर्देश से ज्ञात होता है कि कबीर की मृत्यु उनके सामने ही हो गयी थी। रैदास की अवस्था 120 वर्ष की मानी जाती है।

रैदास की विचारधारा और सिद्धान्त

रैदास की विचारधारा और सिद्धांतों को संत-मत की परंपरा के अनुरूप ही पाते हैं। उनका सत्यपूर्ण ज्ञान में विश्वास था। उन्होंने भक्ति हेतु परम वैराग्य अनिवार्य माना है। परम तत्व सत्य है, जो अनिर्वचनीय-"जस हरि कहिए तस हरि नाही। है अस जस कछु तैसा।" यह परमतत्व एकरस है तथा जड़ और चेतन में समान रूप से अनुस्यूत है। वह अक्षर और अविनश्वर है और जीवात्मा के रूप में हर जीव में अवस्थित है। संत रैदास की साधना पद्धति का क्रमिक विवेचन नहीं मिलता। जहां-तहां प्रसंगवश संकेतों के रूप में वह प्राप्त होती है। विवेचकों ने रैदास की साधना में 'अष्टांग' योग आदि को खोज निकाला है।

संत रैदास अपने समय के प्रसिद्ध महात्मा थे। कबीर ने 'संतनि में रविदास संत' कहकर उनका महत्व स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त नाभादास, प्रियादास, मीराबाई आदि ने भी भी रैदास का ससम्मान स्मरण किया है। संत रैदास ने एक पंथ भी चलाया, जो रैदासी पंथ के नाम से प्रसिद्ध है। इस मत के अनुयायी पंजाब, गुजरात, उत्तरप्रदेश आदि में पाये जाते हैं।

रैदास की रचनायें

रैदास अनपढ़ कहे जाते हैं। संत-मत के विभिन्न संग्रहों में उनकी रचनाएं संकलित मिलती हैं। राजस्थान में हस्तलिखित ग्रंथों के रूप में भी उनकी रचनाएं मिलती हैं। रैदास की रचनाओं का एक संग्रह वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हो चुका है। इसके अलावा इनके बहुत से पद 'गुरु ग्रंथ साहब' में भी संकलित मिलते हैं। यद्यपि दोनों प्रकार के पदों की भाषा में बहुत अंतर है तथापि प्राचीनता के कारण 'गुरु ग्रंथ साहब' में संग्रहित पदों की प्रमाणिक मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। रैदास के कुछ पदों पर अरबी और फारसी का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। रैदास के अनपढ़ तथा विदेशी भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण ऐसे पदों की प्रामाणिकता में संदेह होने लगता है। अत: रैदास के पदों पर अरबी-फारसी के प्रभाव का ज्यादा संभाव्य कारण उनका लोकप्रचलित होना ही प्रतीत होता है।

देव का संक्षिप्त जीवन-परिचय

देव का जन्म 1673 ई. (सं. 1730) प्रथम दोहे में दिये गये 1989 ई. (सं. 1946) में से (चढ़त सोरही वर्ष) घटाकर निकाला गया है। देव का जीवन परिचय मुख्यत: तीन आधारों से प्राप्त होता है; प्रथम 'भावविलास' के अन्त में आने वाले तीन दोहे, द्वितीय देव के प्रपौत्र भोगीलाल का दिया हुआ वंश-परिचय तथा तृतीय देव के वंशज माताहीन दुबे के पास सुरक्षित उनका वंश-वृक्ष। 'भावविलास' की कुछ प्रतियाँ इधर ऐसी भी प्राप्त हुई हैं, देव को कुछ लोगों ने सनाढ्य ब्राह्मण माना है, तो कुछ ने उन्हें कान्यकुब्ज ब्राह्मण माना है।

देव द्वारा रचित ग्रंथ

देव के ग्रंथों के विषय में प्रथम महत्त्वपूर्ण उल्लेख शिवसिंह ने अपने 'सरोज' में किया है। उन्होंने 72 संख्या का उल्लेख करके 11 के नाम गिनाये हैं-प्रेमतरंग, भावविलास, रस विलास, रसानन्द लहरी, सुजान विनोद, काव्य रसायन पिंगल, अष्टयाम, देवमाया प्रपंच नाटक, प्रेमदीपिका, सुमिल विनोद, राधिका विलास (शि.स.पृ. 434)। मिश्रबन्धुओं के अनुसार "देव के ग्रंथों की संख्या 72 या 52 कही जाती है।" उन्होंने कुल 24 ग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की, जिसमें 15 प्राप्त तथा 9 अप्राप्त माने हैं। शिवसिंह की सूची के अतिरिक्त निम्नलिखित 13 नाम इस प्रकार हैं-भवानीविलास, सुन्दरीसिन्दूर, रागरत्नाकर, कुशलविलास, देवचरित्र, प्रेमचन्द्रिका, जातिविलास, सुखसागर तरंग, वृक्षविलास, पावस विलास, देवशतक, प्रेमदर्शन, शिवाष्टक। इसमें भारतेन्दु द्वारा किया हुआ देव के छन्दों का संग्रह सुन्दरी सिन्दूर भी सम्मिलित है।

इकाई-पाँच

महत्त्वपूर्ण वस्तुनिष्ठ ज्ञान

\# **विद्यापति का जन्म कहाँ हुआ था-**

(अ) मिथिला (ब) बंगाल (स) उड़ीसा (द) बिहार **उत्तर-** *(अ)*

\# **विद्यापति किसके पुत्र थे-**

(अ) गौरापति ठाकुर (ब) जयदत्त ठाकुर

(स) गणपति ठाकुर (द) गोविन्द दत्त ठाकुर **उत्तर-** *(ब)*

\# **विद्यापति के गुरु कौन थे-**

(अ) हरिमिश्र (ब) हरिमाधव मिश्र

(स) जयदेव मिश्र (द) विष्णुदत्त मिश्र **उत्तर-** *(स)*

\# **विद्यापति का जन्म स्थान कौनसा है-**

(अ) नरसी (ब) कुढ़पी (स) विसपी (द) जटैल **उत्तर-** *(ब)*

\# **विद्यापति के आश्रयदाता कौन थे-**

(अ) महाराज शिवसिंह (ब) महाराज कीर्ति सिंह

(स) महाराज गणेश्वर (द) महाराज वीर सिंह **उत्तर-** *(ब)*

\# **विद्यापति की पदावली की भाषा क्या है-**

(अ) भोजपुरी (ब) अवधी (स) मैथिली (द) ब्रंज **उत्तर-** *(अ)*

\# **कीर्तिलता की रचना किस भाषा में है-**

(अ) संस्कृत (ब) बंगला (स) अवहट्ट (द) अवधी **उत्तर-** *(स)*

\# **विद्यापति ने 'कीर्तिपताका' की रचना किस भाषा में की है-**

(अ) संस्कृत (ब) अवहट्ट (स) भोजपुरी (द) मैथिली **उत्तर-** *(द)*

\# **निम्न में संस्कृत भाषा में लिखी विद्यापति की रचना कौनसी है-**

(अ) भू-परिक्रमा, पुरुष परीक्षा (ब) लिखनावली, विभागसार

(स) कीर्तिलता, कीर्तिपताका (द) गंगा वाक्यावली, दान वाक्यावली

उत्तर- (ब)

\# कीर्तिलता में किस राजा की कीर्ति का वर्णन है-

(अ) भव सिंह (ब) देव सिंह

(स) शिव सिंह (द) कीर्ति सिंह उत्तर- (स)

\# 'कीर्तिपताका' में किस राजा का यशोगान है-

(अ) भव सिंह (ब) देव सिंह (स) शिव सिंह (द) कीर्ति सिंह उत्तर- (द)

\# विद्यापति के काव्य पर किसका प्रभाव है-

(अ) श्रीमद्भागवत का (ब) महाभारत का

(स) नारद भक्ति सूत्र का (द) जयदेव का उत्तर- (द)

\# 'अभिनव जयदेव' किसे कहा जाता है-

(अ) सूरदास को (ब) नन्ददास को

(स) विद्यापति को (द) छीत स्वामी को उत्तर- (स)

\# विद्यापति को 'अभिनव जयदेव' की उपाधि किसने दी-

(अ) महाराज धीर सिंह ने (ब) महाराज शिव सिंह ने

(स) महाराज भैरव सिंह ने (द) महाराज देवसिंह ने उत्तर- (ब)

\# विद्यापति का मुख्य प्रतिपाद्य क्या है-

(अ) श्रृंगार वर्णन (ब) भक्ति वर्णन

(स) नीति वर्णन (द) प्रशस्ति वर्णन उत्तर- (ब)

\# विद्यापति मूलतः किस समुदाय से जुड़े थे-

(अ) बौद्ध (ब) शैव (स) वैष्णव (द) शाक्त उत्तर- (ब)

\# विद्यापति की काव्यशैली क्या है-

(अ) दोहा-चौपाई शैली (ब) पद शैली

(स) कवित्त शैली (द) सवैया शैली उत्तर- (स)

\# विद्यापति कवि थे-

(अ) श्रृंगारी (ब) भक्त (स) श्रृंगारी-भक्त (द) इनमें कोई नहीं उत्तर- (स)

\# 'विद्यापति बाह्याभ्यान्तर के सफल चित्रकार थे।' कथन है-

(अ) आनन्द दीक्षित का (ब) हनुमान प्रसाद पौद्दार का

(स) डॉ. जनार्दन मिश्र का (द) डॉ. मनोहर लाल गौड़ का उत्तर- (अ)

\# विद्यापति पदावली का प्रमुख प्रतिपाद्य है-

(अ) भक्ति (ब) श्रृंगार (स) रस (द) वात्सल्य उत्तर- (अ)

\# हिन्दी में वैष्णव साहित्य के प्रथम कवि माने गये हैं-

(अ) कबीर (ब) रैदास (स) विद्यापति (द) तुलसीदास उत्तर- (स)

पं. शिवनन्दन ठाकुर विद्यापति को मानते हैं-

(अ) शैव (ब) वैष्णव (स) गोरक्ष (द) जैन **उत्तर-** *(अ)*

विद्यापति की प्रथम अनुरक्ति किसमें थी-

(अ) रानी लखिमा देवी (ब) रानी पद्मावती

(स) राधारानी (द) शिवपटरानी **उत्तर-** *(अ)*

गोपी किसकी प्रतीक है-

(अ) आत्मा की (ब) शरीर की (स) कृष्ण की (द) राधा की **उत्तर-** *(अ)*

मैथिल कोकिल किसे कहा जाता है-

(अ) विद्यापति को (ब) जयदेव को

(स) कबीर को (द) तुलसीदास को **उत्तर-** *(अ)*

विद्यापति काव्य के नायक कौन हैं-

(अ) श्रीकृष्ण (ब) श्रीराम (स) विष्णु जी (द) शंकर जी **उत्तर-** *(अ)*

लोकभाषा मैथिल के पंडित हैं-

(अ) विद्यापति (ब) कबीर (स) तुलसीदास (द) रहीम **उत्तर-** *(अ)*

कीर्तिलता की भाषा है-

(अ) अवहट्ट (ब) प्राकृत (स) अपभ्रंश (द) खड़ी बोली **उत्तर-** *(अ)*

मैथिल की विभक्तियाँ किसके समान हैं-

(अ) अवधि (ब) बंगला (स) प्राकृत (द) बुन्देलखण्डी **उत्तर-** *(अ)*

श्रृंगार रस का स्थायी भाव क्या है-

(अ) रति (ब) वात्सल्य (स) वियोग (द) नियोग **उत्तर-** *(अ)*

गीतिकाव्य के प्रवर्तक कवि हैं-

(अ) कबीर (ब) विद्यापति (स) रसखान (द) जायसी **उत्तर-** *(ब)*

'मेरु ऊपर हुई कमल' यह है-

(अ) मुख वर्णन (ब) उरोज वर्णन

(स) सद्यः स्नाता वर्णन (द) प्रकृति वर्णन **उत्तर-** *(ब)*

'चाँद सर आए मुख' यह वर्णन है-

(अ) नखशिख (ब) मुख वर्णन (स) उरोज वर्णन (द) रूप वर्णन **उत्तर-** *(ब)*

'जाइत पेखन नहाइनि गोरी' यह है-

(अ) रूप वर्णन (ब) सद्यः स्नाता रूप

(स) उरोज वर्णन (द) चन्द्र वर्णन **उत्तर-** *(अ)*

प्रेम का सर्वप्रथम नख बनता है-

(अ) रूप (ब) नखशिख (स) संयोग (द) वियोग **उत्तर-** *(अ)*

कबीर के गुरु का क्या नाम था?

(अ) हरिनारायण (ब) रामानन्द (स) परमानन्द (द) रामानुजाचार्य **उत्तर-** *(ब)*

कबीर की रचनाओं का प्रथम प्रमाणिक ग्रंथ कौनसा माना जाता है?

(अ) कबीर मीमांसा *(ब) संत कबीर*

(स) कबीर ग्रंथावली *(द) कबीर* **उत्तर-** *(स)*

\# **कबीर की रचनाओं का प्रथम प्रमाणिक ग्रंथ 'कबीर ग्रंथावली' का सम्पादन किसने किया था?**

(अ) डॉ. श्यामसुन्दर दास *(ब) डॉ. रामकुमार वर्मा*

(स) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी *(द) इनमें से कोई नहीं* **उत्तर-** *(अ)*

\# **कबीर की रचनाओं का दूसरा प्रमाणिक ग्रंथ कौनसा माना जाता है?**

(अ) कबीर मीमांसा *(ब) सन्त कबीर*

(स) कबीर ग्रंथावली *(द) कबीर* **उत्तर-** *(ब)*

\# **'सन्त कबीर' के सम्पादक कौन हैं?**

(अ) डॉ. श्यामसुन्दर दास *(ब) डॉ. रामकुमार वर्मा*

(स) आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी *(द) इनमें से कोई नहीं* **उत्तर-** *(ब)*

\# **'कबीर ग्रंथावली' का प्रकाशन कहाँ से किया गया?**

(अ) काशी नागरी प्रचारिणी सभा *(ब) हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयोग*

(स) सस्ता साहित्य *(द) काशी ज्ञान मंडल* **उत्तर-** *(अ)*

\# **'कबीर ग्रंथावली' कुल कितने भागों में विभक्त है?**

(अ) दो *(ब) तीन* *(स) चार* *(द) पाँच* **उत्तर-** *(ब)*

\# **'कबीर ग्रंथावली' के प्रथम भाग में कबीर की कौनसी रचनाएं संकलित हैं?**

(अ) साखी *(ब) पदावली* *(स) रमैणी* *(द) बीजक* **उत्तर-** *(अ)*

\# **'कबीर ग्रंथावली' के दूसरे भाग में कबीर की कौनसी रचनाएं संकलित हैं?**

(अ) साखी *(ब) पदावली* *(स) रमैणी* *(द) बीजक* **उत्तर-** *(ब)*

\# **'कबीर ग्रंथावली' के तीसरे भाग में कबीर की कौनसी रचनाएं संकलित हैं?**

(अ) साखी *(ब) पदावली* *(स) रमैणी* *(द) बीजक* **उत्तर-** *(स)*

\# **कबीर किस काव्यधारा के प्रतिनिधि कवि माने जाते हैं?**

(अ) निर्गुण या ज्ञानाश्रयी विचारधारा *(ब) राम भक्ति काव्यधारा*

(स) ज्ञानाश्रयी *(द) कृष्ण भक्ति काव्यधारा* **उत्तर-** *(अ)*

\# **कबीर ने हिन्दू धर्म के किस मत अथवा सम्प्रदाय की सराहना की है?**

(अ) शैव *(ब) शाक्त* *(स) वैष्णव* *(द) सिद्ध* **उत्तर-** *(स)*

\# **कबीर मूलतः कहाँ के निवासी माने जाते हैं?**

(अ) इलाहाबाद (ब) लखनऊ *(स) काशी* *(द) अवध* **उत्तर-** *(स)*

\# **'कबीर की भाषा पंचमेल की खिचड़ी है'-किस विद्वान ने कबीर की भाषा पर यह टिप्पणी की है?**

(अ) आचार्य हजारी प्रसाद *(ब) डॉ. रामकुमार वर्मा*

(स) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल *(द) डॉ. श्यामसुन्दर दास* **उत्तर-** *(द)*

कबीरदास ने अपनी कौनसी साखियों में परमात्मा मिलने के लिए अपनी आत्मा की व्याकुलता की अभिव्यक्ति की है?

(अ) गुरु को अंग *(ब) बिरह को अंग*

(स) सूरातन को अंग *(द) माया को अंग* **उत्तर-** *(ब)*

कबीरदास ने अपनी साखियों के किस भाग में गुरु की महिमा का गुणगान व उसके महत्त्व को दर्शाया है?

(अ) माया को अंग *(ब) बिरह को अंग*

(स) सूरातन को अंग *(द) गुरुदेव को अंग* **उत्तर-** *(द)*

कबीरदास ने भक्ति के लिए किस साधन को अपनाने के लिए बार-बार आह्वान किया है?

(अ) नाम स्मरण (ब) योग साधना (स) उपवास व व्रत (द) गंगा स्नान **उत्तर-** *(अ)*

'ग्यान बिरह कौ अंग' में संकलित साखियों में कबीर ने किसके महत्त्व को स्वीकार किया है?

(अ) नाम स्मरण (ब) माया (स) ज्ञान (द) गुरु **उत्तर-** *(स)*

'कबीर' शब्द किस भाषा से जुड़ा है?

(अ) उर्दू (ब) फारसी (स) अरबी (द) हिन्दुस्तानी **उत्तर-** *(ब)*

कबीरदास की उलटबाँसियाँ पर किसका स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है?

(अ) महायान (ब) वज्रयान (स) सहजयान (द) हीनयान **उत्तर-** *(स)*

कबीरदास ने किस प्रकार की उलटबाँसियों की अधिक रचना की है?

(अ) विरोध मूलक *(ब) रूपक मूलक*

(स) प्रतीकात्मक *(द) अद्‌भुत रस मूल* **उत्तर-** *(अ)*

कबीर की अधिकांश साखियाँ किस छन्द में लिखी गई हैं?

(अ) दोहा (ब) चौपाई (स) सोरठा (द) पद **उत्तर-** *(अ)*

'कबीर ग्रंथावली' में कबीर की साखियों को कितने भागों में बाँटा गया है?

(अ) 50 *(ब)* 150 *(स)* 59 *(द)* 159 **उत्तर-** *(स)*

'कबीर ग्रंथावली' में कबीर की साखियों के अध्यायों को किस नाम से अभिहित किया गया है?

(अ) अंग (ब) भाग (स) अध्याय (द) सर्ग **उत्तर-** *(अ)*

कबीर ने किस सम्प्रदाय से प्रभावित होकर सांख्य मूलक का प्रतीकों का प्रयोग किया हे?

(अ) सिद्ध तथा नाथ *(ब) इस्लाम*

(स) वैष्णव *(द) इनमें से कोई नहीं* **उत्तर-** *(अ)*

कबीरदास ने अपनी रचनाओं में किसके लिए समुद्र, वन, वाटिका, हाट आदि प्रतीकों का प्रयोग किया है?

(अ) शरीर (ब) संसार (स) माया (द) गुरु **उत्तर-** *(ब)*

कबीरदास ने किसकी उपासना करने पर बल दिया है?

(अ) निर्गुण राम (ब) दशरथ पुत्र राम

(स) परशुराम (द) इनमें से कोई नहीं उत्तर- (अ)

कबीर के एकेश्वरवाद पर किसका अधिक प्रभाव दिखाई देता है?

(अ) इस्लाम धर्म (ब) शंकराचार्य के अद्वैतवाद

(स) वेद (द) उपनिषद उत्तर- (ब)

कबीर की रचनाओं में व्यक्त प्रेम तôव पर किसका प्रभाव परिलक्षित होता है?

(अ) सूफी मत (ब) वेद (स) उपनिषद (द) योग साधना उत्तर- (अ)

कबीर की उलटबाँसियों में कौनसे रहस्यवाद के दर्शन होते हैं?

(अ) भावनात्मक (ब) साधनात्मक

(स) अभिव्यक्तिमूलक (द) इनमें से कोई नहीं उत्तर- (स)

कबीर की काव्यानुभूति की प्रमुखतम विशेषता क्या है?

(अ) प्रणयानुभूति (ब) संसार के नश्वरता

(स) मानव-जीवन की सहजता (द) इनमें से कोई नहीं उत्तर- (अ)

कबीर ने अपनी रचनाओं में कुल कितने काव्य रूपों का प्रयोग किया है?

(अ) 8 (ब) 10 (स) 12 (द) 14 उत्तर- (द)

कबीर ने अपनी रचनाओं में जो काव्य रूप प्रयुक्त किए हैं, वे वस्तुतः किस काव्य-परम्परा से जुड़े हैं?

(अ) सिद्धों और योगियों की परम्परा (ब) काव्य-शास्त्र

(स) सूफी काव्य (द) इनमें से कोई नहीं उत्तर- (अ)

कबीर ने किस सम्प्रदाय की कतिपय प्रशंसा की है?

(अ) शाक्त (ब) वैष्णव (स) नाथ (द) जैम उत्तर- (ब)

कबीर ने नारी के किस रूप की निंदा की है?

(अ) पतिव्रता (ब) कामिनी

(स) बहिन (द) इनमें से कोई नहीं उत्तर- (ब)

कबीर का समाज-दर्शन किस वाद पर आधारित है?

(अ) धर्म-निरपेक्षता (ब) मानवतावाद

(स) पूँजीवाद (द) ब्राह्मणवाद उत्तर- (ब)

कबीर ने समाज में सुधार करने के लिए किस गुण को अपनाने पर बल दिया है?

(अ) सदाचार (ब) शक्ति

(स) सत्यनिष्ठा (द) इनमें से कोई नहीं उत्तर- (अ)

कबीरदास ने अपने काव्य में संसार को क्या माना है?

(अ) क्षण भंगुर (ब) दुख का सागर

(स) कर्मभूमि (द) भोग-विलास की भूमि उत्तर- (अ)

कबीरदास ने मानव-जीवन का क्षण-भंगुरता की तुलना किससे की है?

(अ) पानी के बुलबुले *(ब) प्रभात के तारे*

(स) ये दोनों *(द) इनमें से कोई नहीं* **उत्तर-** *(स)*

\# **"कबीर का रहस्यवाद प्रायः शुष्क और नीरस है, पर जायसी आदि का ऐसा नहीं है।" यह कथन किस विद्वान का है?**

(अ) आचार्य शुक्ल *(ब) प्रभात के तारे*

(स) चन्द्रबली पाण्डेय *(द) श्यामसुन्दर दास* **उत्तर-** *(स)*

\# **"कबीर आदि सन्तों का रहस्यवाद ज्ञानजन्य है। अतः वह उतना काव्योपयोगी नहीं, जितना जायसी आदि सूफियों का।" यह किस विद्वान का कथन है?**

(अ) आचार्य शुक्ल *(ब) आचार्य द्विवेदी*

(स) डॉ. श्यामसुन्दर दास *(द) डॉ. रामकुमार वर्मा* **उत्तर-** *(स)*

\# **कबीरदास के गुरु-महत्ता सम्बन्धी विचारों पर किसका प्रभाव परिलक्षित है?**

(अ) सिद्धों व नाथ-पंथियों का *(ब) वैष्णव*

(स) शैव *(द) शाक्त* **उत्तर-** *(अ)*

\# **कबीरदास के माया-विरोधी विचारधारा पर किस सम्प्रदाय का प्रभाव दिखाई देता है?**

(अ) शैव *(ब) शाक्त* *(स) इस्लाम* *(द) वैष्णव* **उत्तर-** *(द)*

\# **इनमें कौनसी रचना जायसी की नहीं है-**

(अ) पद्मावत *(ब) अखरावट* *(स) मृगावती* *(द) आखिरी कलाम* **उत्तर-** *(स)*

\# **पद्मावत किस प्रकार का काव्य है-**

(अ) महाकाव्य *(ब) खण्डकाव्य* *(स) मुक्तककाव्य* *(द) गीतिकाव्य* **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावत की रचना किस भाषा में हुई है-**

(अ) अपभ्रंश *(ब) ब्रजभाषा*

(स) खड़ी बोली *(द) अवधी भाषा* **उत्तर-** *(स)*

\# **पद्मावत की कथावस्तु का विभाजन किस रूप में हुआ है-**

(अ) खण्ड में *(ब) काण्ड में* *(स) सर्ग में* *(द) अध्याय में* **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावत की कथावस्तु कितने खण्डों में विभाजित है-**

(अ) 50 *(ब)* 57 *(स)* 60 *(द)* 65 **उत्तर-** *(ब)*

\# **'पद्मावत' का कथा नायक कौन है-**

(अ) पद्मसेन *(ब) चित्रसेन* *(स) रत्नसेन* *(द) शिवसेन* **उत्तर-** *(स)*

\# **जायसी भक्तिकाल की किस धारा के कवि हैं-**

(अ) कृष्ण काव्य धारा *(ब) राम काव्य धारा*

(स) सन्त काव्य धारा *(द) सूफी काव्य धारा* **उत्तर-** *(द)*

\# **रत्नसेन कहाँ के राजा थे-**

(अ) चित्तौड़गढ़ *(ब) पिथौरागढ़* *(स) रामगढ़* *(द) श्यामगढ़* **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावत की रचना किस शैली में हुई है-**

(अ) पद शैली *(ब) मसनवी शैली*

(स) दोहा शैली *(द) कवित्त-सवैया शैली* **उत्तर-** *(ब)*

\# **रत्नसेन की पहली रानी कौन थी-**

(अ) मानवती *(ब) भानुमती* *(स) राममती* *(द) नागमती* **उत्तर-** *(स)*

\# **रत्नसेन की दूसरी रानी कौन थी-**

(अ) पद्मावती *(ब) मधुमालती* *(स) रामवती* *(द) नागमती* **उत्तर-** *(द)*

\# **पद्मावती का जन्म किस द्वीप में हुआ था-**

(अ) जम्बूद्वीप *(ब) कुश द्वीप* *(स) सिंघल द्वीप* *(द) लक्ष्य द्वीप* **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावती स्नान के लिए कहाँ जाती है-**

(अ) बावड़ी में *(ब) नदी में* *(स) समुद्र में* *(द) मानसरोवर में* **उत्तर-** *(ब)*

\# **जायसी ने पद्मावती को किसका प्रतीक माना हे-**

(अ) ब्रह्म *(ब) जीव* *(स) माया* *(द) जगत* **उत्तर-** *(स)*

\# **अलाउद्दीन कहाँ का बादशाह था-**

(अ) बनारस *(ब) दिल्ली* *(स) उदयपुर* *(द) चित्तौड़गढ़* **उत्तर-** *(द)*

\# **राघव चेतन रत्नसेन का कौन था-**

(अ) मित्र *(ब) सम्बन्धी* *(स) मन्त्री* *(द) दरबान* **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावती में हीरामन किसका नाम है-**

(अ) राजा *(ब) घुड़सवार* *(स) मन्त्री* *(द) तोता (पक्षी)* **उत्तर-** *(द)*

\# **पद्मावती की सखी का हार किसने चुराया था-**

(अ) मानसरोवर ने *(ब) दासी ने* *(स) किसी सखी ने* *(द) चोर ने* **उत्तर-** *(स)*

\# **सखी का हार मानसरोवर ने चुराया था-**

(अ) धनवान होने के लिए *(ब) पद्मावती के चरण छूने के लिए*

(स) सखियों को सतर्क करने के लिए *(द) गरीबों में बाँटने के लिए* **उत्तर-** *(द)*

\# **अलाउद्दीन ने चित्तौड़गढ़ पर आक्रमण किया था-**

(अ) रत्नसेन को मार डालने के लिए *(ब) राज्य लेने के लिए*

(स) पद्मावती को ले जाने के लिए *(द) खजाना लूटने के लिए* **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावती को प्राप्त करने के लिए रत्नसेन को किसने उकसाया था-**

(अ) राघव चेतन ने *(ब) किसी दासी ने*

(स) नागमती ने *(द) हीरामन तोता ने* **उत्तर-** *(स)*

\# **पद्मावती की रूप-चर्चा अलाउद्दीन से किसने की थी-**

(अ) राघवचेतन ने *(ब) चित्तौड़ के दूत ने*

(स) हीरामन तोता ने *(द) गोरा-बादल ने* **उत्तर-** *(स)*

\# **रत्नसेन की मृत्यु के बाद दोनों रानियों ने क्या किया-**

(अ) दिल्ली चली गईं *(ब) चिता में भस्म हो गईं*

(स) जंगल में भाग गईं *(द) योगिनी बन गईं* **उत्तर-** *(द)*

सुमिरौं आदि एक करतारु। जेहि जिउ दीन्ह कीनह संसारु॥ उपर्युक्त पंक्ति किस कवि की लिखी है-

(अ) तुलसीदास (ब) सूर (स) जायसी (द) अग्रदास **उत्तर-** *(स)*

धरी तीर सब कंचुकि सारी। सरवर महँ पैठी सब बारी॥ उपर्युक्त किस काव्य की है-

(अ) रामचरित मानस *(ब) आखिरी कलाम*

(स) अखरावट *(द) पद्मावत* **उत्तर-** *(द)*

भक्तिकाल की सही समयावधि है-

(अ) 1375-1700 *(ब)* 1400-1650

(स) 1326-1716 *(द)* 1385-1800 **उत्तर-** *(अ)*

किस युग को हिन्दी साहित्य का स्वर्ण युग कहा जाता है-

(अ) आदि काल *(ब) भक्ति काल*

(स) रीति काल *(द) छायावादी काल* **उत्तर-** *(ब)*

डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने वीरगाथा काल का नामकरण किया है-

(अ) आदि काल *(ब) सिद्ध सामन्त काल*

(स) चारण काल *(द) इन तीनों में कोई नहीं* **उत्तर-** *(अ)*

आदि काल को बीजवपन काल नाम दिया है-

(अ) मिश्र बन्धु ने *(ब) महावीर प्रसाद द्विवेदी ने*

(स) मोती लाल मेनारिया ने *(द) डॉ. श्याम सुन्दर दास ने* **उत्तर-** *(ब)*

आदि काल को अपभ्रंश काल कहा है-

(अ) मिश्र बन्धु ने *(ब) डॉ. धीरेन्द्र वर्मा तथा गुलेरी ने*

(स) चन्द्रधर शर्मा गुलेरी ने *(द) आचार्य शुक्ल ने* **उत्तर-** *(ब)*

आदिकालीन साहित्य में कौनसा पक्ष लुप्त मिलता है-

(अ) भक्ति (ब) राष्ट्रीय चेतना (स) श्रृंगार (द) कहानी **उत्तर-** *(ब)*

भक्ति का आन्दोलन कहाँ से प्रारम्भ हुआ-

(अ) उत्तर (ब) पूर्व (स) पश्चिम (द) दक्षिण **उत्तर-** *(द)*

किस आचार्य ने अपने भक्ति मार्ग में राधा की उपासना का सर्वप्रथम विधान किया था-

(अ) यमुनाचार्य (ब) वल्लभाचार्य (स) मध्वाचार्य (द) रामानन्द **उत्तर-** *(द)*

निर्गुण धारा के एकछत्र सम्राट हैं-

(अ) कबीर (ब) नजीर (स) रैदास (द) दादू **उत्तर-** *(अ)*

सन्तों ने किस रूप की निन्दा की है-

(अ) कामिनी रूप *(ब) पतिव्रता रूप*

(स) अशिक्षित रूप *(द) सम्पूर्ण नारी जगत* **उत्तर-** *(अ)*

सन्तों की सधुक्कड़ी भाषा से आशय है-

(अ) ऐसी भाषा जो अशिक्षितों की हो

(ब) जिसमें अनेक प्रादेशिक भाषाओं के शब्दों का मिश्रण हो

(स) जो हृदय में धुकधुकी पैदा करे

(द) जिसमें रहस्यमय उक्तियों का प्रयोग किया गया हो **उत्तर-** *(ब)*

\# **कबीर का दार्शनिक चिन्तन है-**

(अ) एकेश्वरवाद(ब) अद्वैतवाद (स) द्वैतवाद (द) शुद्धाद्वैतवाद **उत्तर-** *(ब)*

\# **कबीर की सम्पूर्ण रचनाएं बीजक नामक ग्रन्थ में संग्रहीत हैं। इस ग्रन्थ का सम्पादन किसने किया-**

(अ) धरमदास (ब) मलूकदास (स) सुन्दरदास (द) सहजोबाई **उत्तर-** *(अ)*

\# **'रमैनी' किस सन्त कवि की काव्य-रचना का रूप है-**

(अ) कबीर (ब) रैदास (स) गरीबदास (द) नजीर **उत्तर-** *(अ)*

\# **सूफी काव्य परम्परा का सर्वप्रधान ग्रन्थ है-**

(अ) पद्मावत (ब) मृगावती (स) हंस जवाहिर (द) चित्रावली **उत्तर-** *(अ)*

\# **सूफी प्रेमाख्यान काव्य परम्परा के आदि प्रतिष्ठापक माने जाते हैं-**

(अ) जायसी (ब) मंझन (स) उस्मान (द) मुल्ला दाऊद **उत्तर-** *(द)*

\# **सूफी प्रेम-काव्यों में कौनसी विशेषता नहीं मिलती-**

(अ) कथानक रूढ़ियों का प्रयोग (ब) ज्ञान प्रदर्शन की भावना

(स) इस्लाम धर्म का प्रचार करने की प्रकृति

(द) प्रतीक योजना **उत्तर-** *(ब)*

\# **'पद्मावत' में सिंहलदीप किसका प्रतीक है-**

(अ) हृदय (ब) आत्मा (स) शरीर (द) बुद्धि **उत्तर-** *(अ)*

\# **पद्मावत का कौनसा खण्ड हिन्दी साहित्य की अनुपम निधि माना जाता है-**

(अ) पद्मावती वियोग खण्ड (ब) नागमती वियोग खण्ड

(स) नख-शिख खण्ड (द) रत्नसेन विदाई खण्ड **उत्तर-** *(ब)*